EDUCATIONAL SERIES No. 1.

Prescribed by the Allahabad University for Matriculation Examination.

हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह।

संग्रहकर्ता

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा।

ALL RIGHTS RESERVED.

हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह।

[illegible] नागरी प्रचारिणी [illegible]

[illegible]

संग्रहकर्ता

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा।

तृतीयवार

लखनऊ

मनोहरलाल भार्गव बी. ए., सुपरिंटेंडेंट के प्रबन्ध से

मुंशी नवलकिशोर सी. आई. ई., के छापेखाने में छपा।

सन् १९१७ ई०

Most of the higher reading books in *Hindi Literatur* ıt have hitherto been used in our schools, are in man ;ys unsuitable text-books for class-use or home-reading ɔst of them deal with one subject only and thus acquain e student with one manner of style and with one author ly and keep other beauties entirely hidden from him. ıe books that have been published for the purpose and e in use contain matter inappropriate for school-use. ɔr instance Shakuntala, though a master-piece in itself is ɔt suitable *as a whole* to be left in the hands of young udents. Books of voyages and travels, of daring adven- ;res, of lofty ideals, would, I believe, do more good ıd appeal more, than those of the first-named category.

In the preparation of this book of selections the com- ller has kept steadily in view the following points, *viz.*, love for the best reading material; an intelligent ;quaintance, however slight, with the works of the best uthors, past and present; attempt at the formation of a ecent style of writing, which cannot be attained without n acquaintance with a number of styles; variety of ubjects; and that a good stock of vocabulary and ideas hould be at the command of the student after he has asse l the *highest standard* in which *Hindi* is taught.

I venture to believe that the introduction of Messrs. alloo Lall, Raja Shiva Prasad, Raja Lakshman Singh, Bhartendu Harish Chandra, Pratap Narayan Mishra, Shyam Behari Mishra, M. A., Mahaveer Prasad Dvivedi, Sur Das, Tulsi Das, Ambika Datt Vyas, Sita Ram, B. A., and others, will prove a valuable feature of this little collection and that teachers will [illegible] suitable read- ng book for Matriculation an[illegible] g classes.

Banaras.

[गद्य भाग]

१. सत्राजित् का वध	पं० लल्लूलालजी ...	१
२. राजा भोज का सपना	राजा शिवप्रसाद ...	१२
३. शकुन्तला	राजा लक्ष्मणसिंह ...	३२
४. मुद्राराक्षस	भा० हरिश्चन्द्र ...	३६
५. काश्मीरयात्रा	बा० कार्तिकप्रसाद खत्री	४२
६. दादाजी कोंडदेव का शिवाजी को उपदेश	,, ...	५४
७. काल	पं० प्रतापनारायण मिश्र	५८
८. आश्चर्य वृत्तान्त	पं० अम्बिकादत्त व्यास	६४
९. यूनानी राजदूत और वैष्णव धर्म	पं० गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा ...	७४
१०. उत्तरी ध्रुव की यात्रा	पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी	८३
११. पण्डित लल्लूलाल कवि	पं० किशोरीलाल गोस्वामी	९०
१२. मनुष्य का कर्त्तव्य	पं० देवीसहायजी ...	९६
१३. क्षमा	पं० माधवप्रसाद मिश्र	१०३
१४. मुग़ल बादशाहों की तख़्तनशीनी	मुं० देवीप्रसाद ...	१०८

१५. कर्त्तव्य कर्म पं० गङ्गा
अ
१६. शारीरिक सुधार बा० जग
१७. गाँवों में कातने और
बुनने का काम पं० श्रीकृ
१८. ईश्वर और अनीश्वर वाद पं० श्याम
पं० शुकदे
१९. वीर बालक अभिमन्यु कुँवर हर
२०. भरत पं० राधा
२१. राजा चंद्रापीड़ को मंत्री
का उपदेश ... ...
२२. उद्योग और सफलता ...
२३. मत्स्याहारी वनस्पति बा० यश
अ

[पद्य भाग]

१. प्रार्थना	सूरदास ...	... २०२
२. श्रीकृष्ण-प्रतिज्ञा	"	
३. भीष्म-प्रतिज्ञा	"	
४. सन्त-महिमा	"	... २०३
५. चेतावनी	"	
६. युधिष्ठिर प्रति भीष्मोपदेश	" ...	... २०४
७. रासपञ्चाध्यायी	नन्ददासजी	... २०७
८. राम वनगमन (कवितावली से)	गो० तुलसीदासजी	... २११
९. उत्तर काण्ड से उपदेश	"	... २२०
१०. नीति के दोहे	चौ० विहारीलाल	... २३१
११. छत्रसाल दसक	भूषण ...	... २३४
१२. गङ्गागौरव	पद्माकर ...	... २३८
१३. भीष्म-प्रतिज्ञा	राजा रघुराजसिंह	... २४१
१४. दशावतार	भा० हरिश्चन्द्र	... २४४
१५. यमुनाछवि	" ...	... २४६
१६. प्रेमप्रलाप	" ...	... २४९
१७. आनन्दअरुणोदय	चौ० बद्रीनारायण	२५३
१८. श्रीपञ्चमी	पं० ... मिश्र	२५८
१९. शरद	...	ए., २६२
२०. काशी वर्णन		... २६५
		... २७२
		... २७४

२३. जय रामचन्द्र — बा० बालमुकुन्द गुप्त — २७
२४. राममरोसा — ,, ... २८
२५. प्रताप-विसर्जन — बा० राधाकृष्णदास — २८
२६. सावित्री-प्रबोधन — पं० किशोरीलाल ... २९
२७. पितृ-वियोग — पं० माधवप्रसाद मिश्र — २९
२८. युवा संन्यासी — ,, ... ३०
२९. संसार — पं० श्यामविहारी मिश्र, पं० शुकदेवविहारीमिश्र — ३०३
३०. कहावतों पर कुण्डलियाँ — पं० गोपीनाथ पुरोहित एम. ए. ... ३०५
३१. हनुमानजी का रावण को उपदेश — बा० कृष्णचन्द्र ... ३१०
३२. श्रीराघवेन्द्रस्तव — बा० मैथिलीशरण गुप्त — ३१५

हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह।

सत्राजित् का वध।

[श्रीयुत पण्डित लल्लूलालजी कृत " प्रेमसागर " से]

श्री शुकदेवजी बोले कि महाराज ! मणि के लिये जैसे शतधन्वा सत्राजित् को मार मणि ले अक्रूर को दे द्वारका को छोड़ भागा तैसे मैं सब कथा कहता हूँ तुम चित्त दे सुनो। एक दिन हस्तिनापुर से आय किसी ने बलराम सुखधाम और श्रीकृष्णचन्द आनन्दकन्द से यह सन्देसा कहा कि—

पाण्डव न्योते अन्धसुत, घर के बीच बुलाय।
अर्द्धरात्रि चहुँ ओर तें, दीनी आग लगाय॥

इतनी बात के सुनते ही दोनों भाई अति दुःख पाय घबराय तत्काल दारुक सारथी से अपना रथ मँगवाय

---

१ राजा परीक्षित से।

तिस पर चढ़, हस्तिनापुर को गये, और रथ से उतर कौरवों की सभा में जाय खड़े रहे। तहाँ देखते क्या हैं कि सब तन छीन मन मलीन बैठे हैं, दुर्योधन मन ही मन कुछ सोचता है, भीष्म नयनों से जल मोचता है, धृतराष्ट्र बड़ा दुःख करता है, द्रोणाचार्य की भी आँखों से पानी चलता है, विदुरजी भी पछताते हैं, गान्धारी उसके पास आय बैठी है और भी जो कौरवों की स्त्रियाँ थीं, सो भी पाण्डवों की सुध कर रो रही थीं और सारी सभा शोकमय हो रही थी। महाराज! तहाँ की यह दशा देख श्रीकृष्ण बलरामजी भी उसके पास जा बैठे और इन्होंने पाण्डवों का समाचार पूँछा, पर किसी ने कुछ भेद न कहा, सब चुप हो रहे।

इतनी कथा कह, श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित से कहा कि महाराज! श्रीकृष्ण बलरामजी तो पाण्डवों के जलने का समाचार पाय, हस्तिनापुर को गये और द्वारका में शतधन्वा नाम एक यादव था, कि जिसने पहले सत्यभामा माँगी थी। तिसके यहाँ अक्रूर और कृतवर्मा मिल कर गये और दोनों ने उससे कहा कि हस्तिनापुर को गये श्रीकृष्ण बलराम, अब आय पड़ा है तेरा दाँव। सत्राजित् से तू अपना बैर ले, क्योंकि उसने तेरी बड़ी चूक की, जो तेरी माँग श्रीकृष्ण को दी, और तुझे गाली चढ़ाई, अब यहाँ उसका कोई नहीं है सहाई। इतनी बात के सुनते ही शतधन्वा अति क्रोधकर उठा, और रात्रिसमय सत्राजित् के घर आ ललकारा। निदान छल

१ बसर। २ बे। ३ भूल। ४ गालियाँ दीं।

चल, कर, उसे मार वह मणि ले आया, तब शतधन्वा अकेला घर में बैठ कुछ सोच विचार कर, मन ही मन पछताय कहने लगा :—

मैं यह बैर कृष्ण सों कियो, मत अक्रूर को मन में लियो।
कृतवर्मा अक्रूर मिलि, मतो दियो मोहिं आय।
साधक है जो कपट को, तासों कहा बसाय॥

महाराज! इधर शतधन्वा तो इस भाँति अछताय पछताय बार बार कहता था, कि होनहार से कुछ न बसाय, कर्म्म की गति किसी से जानी न जाय और उधर सत्राजित् को मरा निहार उसकी नारी रो रो कन्त! कन्त! उठो पुकार, उसके रोने की ध्वनि सुन सब कुटुम्ब के लोग क्या स्त्री क्या पुरुष अनेक भाँति की बातें कह कह रोने पीटने लगे; और सारे घर में कुहराम पड़गया। पिता का मरना सुन, उसी समय सत्यभामाजी आय, सब को समझाय, बाप को लोथ तेल में डलवाय अपना रथ मँगवाय, तिसपर चढ़, श्रीकृष्णचन्द आनन्दकन्द के पास चलीं और रात्रिदिन के बीच जा पहुँचीं।

देखत ही उठ बोले हरी, घर है कुशल क्षेम सुन्दरी।
सतिभामा कहि जोरे हाथ, तुम बिन कुशल कहाँ यदुनाथ॥
हमहिं विपत शतधन्वा दई, मेरो पिता हत्यो मणि लई।
धरे तेल में सहर विहारे, करौं दूर सब सूल हमारे॥

इतनी बात कह, सत्यभामाजी श्रीकृष्ण बलदेवजी के सोहों खड़ी हो हाय पिता! हाय पिता! कर, हाय मार रोने लगीं, उनका रोना सुन श्रीकृष्ण बलरामजी ने भी पहले तो

१ लाश, शव। २ सामने।

ते उदास होकर लोकरीति दिखाई, पीछे सत्यभामा आशा भरोसा दे, दाँदस बँधाय तहाँ से साथ ले द्वारका आए। श्री शुकदेवजी बोले, कि महाराज ! द्वारका में ते ही श्रीकृष्णचन्द ने सत्यभामा को महादुःखी देख तेज़ा कर कहा, कि सुन्दरि ! तुम अपने मन में धीरज ते, और किसी बात की चिन्ता मत करो, जो होना था । हुआ, पर अब मैं शतधन्वा को मार, तुम्हारे पिता । पैर लूँगा तब मैं और काम करूँगा ।

महाराज ! रामकृष्ण के आते ही शतधन्वा अति भय ाय, घर छोड़ मन ही मन यह कहता था कि पराए कहे ने श्रीकृष्णजी से वैर किया अब शरण किसकी लूँ ! तवर्मा के पास आया, और हाथ जोड़ अति विनती कर ला, कि महाराज ! आपके कहे से मैंने किया यह काम, ऊपर कोपे हैं श्रीकृष्ण और बलराम। इससे मैं भागकर तुम्हारी शरण आया हूँ मुझे कहीं रहने को ठौर बताइये। शतधन्वा से यह बात सुन, कृतवर्मा बोला, कि सुनो मुझसे कुछ नहीं हो सकता, जिसका वैर श्रीकृष्णचन्द से रखा, सो मर गया ही मेरा । तू क्या नहीं जानता था कि हैं अक्षिणी सुगरी, जिनसे वैर किये होगी हार मारी। किसी के कहे से क्या हुआ, अपना बल विचार काम क्यों न किया ? संसार की रीति है कि वैर, ब्याह और प्रीति समान ही से कीजे । तू हमारा भरोसा मत रख, हम श्रीकृष्णचन्द आनन्दकन्द के सेवक हैं, उनसे वैर करना हमें नहीं सोभता । जहाँ तेरे गौत्र भाँति

---

१ [illegible] २ [illegible]

तहाँ जा। महाराज! इतनी बात सुन शतधन्वा निपट उदास हो, वहाँ से चल अक्रूर के पास आया और हाथ बाँध, सीस नाय, विनती कर, हाहा खाय, कहने लगा कि:—

प्रभु तुम हो यादवपति ईस, तुम्हें नवावत हैं सब सीस।
साधु दयालु धर्म्म तुम धीर, दुख सह आप हरत परपीर॥
बचन कहे की लज्जा तुम्हें, अपनी सरन राखो तुम हमें॥

मैंने तुम्हारा ही कहा मान यह काम किया; अब तुम्हीं कृष्ण के हाथ से बचाओ। इतनी बात के सुनते ही अक्रूरजी ने शतधन्वा से कहा, कि तू बड़ा मूर्ख है जो हमसे ऐसी बात कहता है। क्या तू नहीं जानता कि श्रीकृष्णचन्द्र सब के कर्ता, दुःखहर्ता हैं? उनसे बैर कर संसार में कब कोई रह सकता है? कहने वाले का क्या बिगड़ा? अब तो तेरे सिर पर आन पड़ी। कहा है,—सुर नर मुनि की याही रीति, स्वारथ लागि करें सब प्रीति—और जगत में बहुत भाँतिके लोग हैं, सो अनेक अनेक प्रकार की बातें अपने स्वार्थ की कहते हैं। इसमें मनुष्य को उचित है, कि कहे पर न जाय, जो काम करे, तिसमें पहले अपना भला बुरा विचार ले, पीछे उस काम में पाँव दे। तूने बेसमझूझ कर किया है काम, अब तुझे कहीं जगत में रहने को नहीं है धाम; जिसने कृष्ण से बैर किया, वह फिर न जिया, जहाँ भाग के रहा, वहीं मारा गया। मुझे मरना नहीं जो तेरा पक्ष करूँ, संसार में जी सब को प्यारा है। महाराज! अक्रूरजी ने जब शतधन्वा को यों रूखे सूखे बचन सुनाये, तब वह निराश हो; जीने की आश छोड़, मणि अक्रूरजी के पास रख, रथ पर चढ़, नगर छोड़ भागा; और उसके पीछे रथ पर

यह श्रीकृष्ण बलरामजी भी उठ दौड़े; और चलते चलते उन्होंने उसे सौ योजन पर जाय लिया, उनके रथ की आहट पाय, शतधन्वा अति घबराय रथ से उतर मिथिलापुर में जा पड़ा। प्रभु ने उसे देख क्रोध कर सुदर्शन चक्र को आज्ञा दी कि तू अभी शतधन्वा का सिर काट। प्रभु की आज्ञा पाते ही सुदर्शन चक्र ने उसका सिर जा काटा। तब श्रीकृष्णचन्द ने उसके पास जाय, मणि ढूँढ़ी पर न पाई। फिर उन्होंने बलदेवजी से कहा, कि भाई! शतधन्वा को मारा और मणि न पाई। बलराम जी बोले, कि भाई! यह मणि किसी बड़े पुरुष ने पाई, तिसने हमें लाय नहीं दिखाई। यह मणि किसी के पास छिपने की नहीं; तुम देखियो। निदान कहीं न कहीं प्रकटेगी। इतनी बात कह बलदेवजी ने श्रीकृष्णचन्द से कहा, कि भाई! अब तुम तो द्वारकापुरी को सिधारो, और हम हमारे परम प्रिय विदेहराज को देखना चाहते हैं। इतनी कथा कह श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित से कहा, कि महाराज! श्रीकृष्णचन्द आनन्दकन्द तो शतधन्वा को मार द्वारकापुरी को पधारे और बलराम सुखधाम मिथिलापुरी में जा पहुँचे। इनके पहुँचने के समाचार पाय, मिथिलापुरी का राजा उठ धाया, आगे बढ़ भेंट कर भेंट दे, प्रभु को गाजे बाजे से पाटम्बर के पाँवड़े डालता निज मन्दिर में ले आया। सिंहासन पर बिठाय अनेक प्रकार से पूजा कर भोजन करवाये। ऐसे राजा जनक से मानित बलदेव दाऊ

---

१ पकड़ लिया। २ अपने होना चाहिये। ३ यह वे जनक नहीं हैं जिनकी कन्या सीता थी। जनक मिथिला देश के राजाओं की उपाधि है।

कितने एक बरस वहीं रहे। इतनेही काल में धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन गदा युद्ध सीखता भया। आगे श्रीकृष्णजी के पहुँचने के उपरान्त कितने एक दिन पीछे बलरामजी भी द्वारकानगरी में आये, तो श्रीकृष्णजी ने सब यादव साथ ले सत्राजित् को तेल से निकाल, अग्निसंस्कार किया और अपने हाथों दाह दिया। जब श्रीकृष्ण जी क्रिया कर्म्म से निश्चिन्त भए, तब अक्रूर कृतवर्मा कुछ आपस में सोच विचार कर श्रीकृष्णजी के पास आय, उन्हें एकान्त ले जाय, मणि दिखाय कर बोले कि महाराज! यादव सब ही मूरख भये और माया में मोह गये। तुम्हारा सुमिरन ध्यान छोड़, धनान्ध[1] हो रहे हैं। जो ये अब कुछ कष्ट पावें, तो प्रभु की सेवा में आवें; इसलिये हम नगर छोड़ मणि ले भागते हैं। जब हम इनसे आपका भजन सुमिरन करावेंगे, तभी द्वारकापुरी में आवेंगे। इतनी बात कह अक्रूर और कृतवर्मा सब कुटुम्ब समेत आधीरात को श्रीकृष्णचन्द के भेद से द्वारकापुरी से भागे ऐसे कि किसी ने न जाना कि किधर गये। भोर होते ही सारे नगर में यह चर्चा फैली, कि न जानिये रात की रात में अक्रूर और कृतवर्मा कुटुम्बसमेत किधर गये, और क्या हुए? इतनी कथा कह श्रीशुकदेवजी बोले कि महाराज! इधर द्वारकापुरी में नित नित घर घर यह चर्चा होने लगी, और उधर अक्रूरजी प्रथम प्रयाग में जाय मुण्डन करवाय, त्रिवेणी नहाय, बहुतसा दान पुण्य कर, तहाँ हरिपैड़ी बँधवाय गया को गये। तहाँ हू फल्गू नदी के तीर बैठ,

---

१ मदान्ध। २ वहाँ।

शास्त्र की रीति से श्राद्ध किया, और गयालियों को जिमाय, बहुत ही दान दिया। पुनि गदाधर के दर्शन करके, तहाँ से चले काशीपुरी में आये। इनके आने का समाचार पाय, इधर उधर के राजा सब आय आय भेंट कर, भेंट धरने लगे और ये तहाँ यज्ञ दान तप व्रत कर रहने लगे। इसमें कितने एक दिन बीच श्रीमुरारी भक्त-हितकारी ने अक्रूरजी का बुलाना जी में ठान, बलरामजी से आन के कहा, कि भाई! अब प्रजा को कुछ दुःख दीजे, और अक्रूरजी को बुलवा लीजे, बलदेवजी बोले, महाराज! जो आपकी इच्छा में आवे सो कीजे, और साधुओं को सुख दीजे। इतनी बात बलरामजी के मुख से निकलते ही श्रीकृष्णचन्द्रजी ने ऐसा किया, कि द्वारका-पुरी में घर घर ताप, तिजारी, मिरगी, खयी, दाद, खाज, आधासीसी, कोढ़, महाकोढ़, जलोदर, कठोदर, अतीसार, आंव, मरोड़ा, खाँसी, शूल, अर्द्धांग, शीताङ्ग, कोला, सन्निपात आदि व्याधी फैल गई और चार महीने वर्षा भी न भई, तिससे सारे नगर की नदी नाले सरोवर सूख गये। तृण अन्न भी कुछ न उपजा। नभचर, जलचर, थलचर, जीव, जन्तु, पक्षी और ढोर व्याकुल हो, गूल गूल मरने और पुरवासी सारे भूखों के मारे त्राहि त्राहि करने। निदान सब नगरनिवासी महाव्याकुल हो, यदुराय, श्रीकृष्णचन्द कृपालुजी के पास आय, अति गिड़गिड़ाय, अधिक आधीनता कर हाथ जोड़, सिर नाय कर, कहने लगे कि:—

१ [illegible] को। २ [illegible]।

हम तो सरन तिहारी रहैं, कष्ट महा अब क्यों कर सहैं।
मेघ न बरस्यो पीड़ा भई, कहा विधाता ने यह ठई॥

इतना कह फिर कहने लगे, कि हे द्वारकानाथ! दीनदयालु! हमारे तो कर्ता दुःखहर्ता तुम्हीं हो। तुम्हें छोड़, कहाँ जायँ? और किस से कहें? यह उपाधि बैठे बिठाए में कहाँ से आई? और काहे भई? सो कृपा कर कहिये।

श्री शुकदेव मुनि बोले, कि महाराज! इतनी बात के सुनते ही श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उनसे कहा, कि सुनो, जिस पुर से साधुजन निकल जाते हैं, तहाँ आप से आप आपत्काल दरिद्र दुःख आता है। जबतें अक्रूरजी इस नगर से गये हैं तभीतें यह गति भई। जहाँ रहत हैं साधु सत्यवादी और हरिदास, तहाँ होता है अशुभ अकाल विपत्ति का नास। इन्द्र रखता है हरिभक्तों का स्नेह, तातें उस नगर में भली भाँति बर्षता है मेह। इतनी बात के सुनते ही सब यादव बोल उठे कि महाराज! आपने सत्य कहा, यह बात हमारे भी जी में आई। क्योंकि अक्रूर के पिता का नाम श्वफल्क है, वे हैं बड़े साधु सत्यवादी धर्मात्मा हैं। जहाँ वे रहते हैं, तहाँ कभी दुःख दरिद्र और नहीं होता है अकाल, सदा समय पर मेह बर्षता है तातें होता है सुकाल और सुनिये कि एक समय काशीपुर में बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। तहाँ काशी का राजा, श्वफल्क को बुलाय लेगया। महाराज श्वफल्क के जाते ही उस देश में मेह मनमाना बर्षा, समय भया

१ टली है। २ क्यों?।

और सब का दुःख गया, पुनि काशीपुरी के राजा ने अ
लड़की श्वफल्क को ब्याह दी। वे आनन्द से तहाँ
लगे; उस राजकन्या का नाम गान्दिनी था। तिसी
पुत्र अक्रूर है। इतना कह सब यादव बोले, कि महार
हम तो यह बात आगे से जानते थे, अब जो आप अ
कीजे सो करें। श्रीकृष्णचन्द बोले कि, अब तुम
आदर मानकर अक्रूरजी को जहाँ पाओ तहाँ से
आओ यह वचन प्रभु के मुख से निकलते ही
यादव मिल अक्रूर के ढूँढ़ने को निकले, और चले
वाराणसीपुरी में पहुँचे। अक्रूरजी से भेंट कर भेंट
हाथ जोड़, सीस नाय, सन्मुख खड़े हो बोले:—

चलो नाथ बोलतें[1] बलश्याम, तुम बिन पुरवासी है बिराम।
जितही तुम तितही सुखबास, तुम बिन कष्ट दरिद्र निवास॥
यद्यपि पुर में श्रीगोपाल, तऊ कष्ट है परयो अकाल।
साधुन के बस श्रीपति रहैं, तिनतें सब सुख सम्पति लहैं॥

महाराज! इतनी बात के सुनते ही अक्रूरजी वहाँ
अति आतुर हो, कुटुम्ब समेत कृतवर्मा को साथ ले,
यदुवंशियों को लिये, बाजे गाजे से चल खड़े हुए;
कितने एक दिनों के बीच आ, सब समेत द्वारकापुरी
पहुँचे। इनके आने का समाचार पाय, श्रीकृष्णजी
बलराम आगे बढ़ आय इन्हें अति मान सन्मान से
में लिवाय ले गये। हे राजा! अक्रूरजी के पुरी में प्र
करते ही मेह बर्षा और समय हुआ। सारे नगर
दुःख दरिद्र बह गया। अक्रूर की महिमा हुई।
द्वारकावासी आनन्द मङ्गल से रहने लगे।

---

१ बोलत=बुलाते हैं।

आगे एक दिन श्रीकृष्णचन्द आनन्दकन्द ने अक्रूरजी को निकट बुलाय एकान्त ले जाय के कहा कि तुमने सत्राजित् की मणि ले क्या की ? वह बोला महाराज ! मेरे पास है। फिर प्रभु ने कहा जाको वस्तु ताको दीजै और वह न होय तो ताके पुत्र को सौंपिये, पुत्र न होय तो ताके भाई को दीजै, भाई न होय तो ताके कुटुम्ब को सौंपिये, कुटुम्ब भी न होय तो ताके गुरुपुत्र को दीजै, गुरुपुत्र न होय तो ब्राह्मण को दीजिये। पर किसी का द्रव्य आप न लीजिये। यह न्याय है, इससे अब तुम्हें उचित है कि सत्राजित् की मणि उसके नातिन को दो और जगत में बड़ाई लो। महाराज ! श्रीकृष्णचन्द के मुख से इतनी बात के निकलते ही अक्रूरजी ने मणि लाय प्रभु के आगे धर हाथ जोर अति विनती कर कहा, कि दीनदयालु ! यह मणि आप लीजिये और मेरा अपराध दूर कीजिये। इस मणि से सोना निकला सो मैंने तीर्थ-यात्रा में उठाया है। प्रभु बोले अच्छा किया। यों कह मणि ले हरि ने सत्यभामा को जा दिया और उसके चित्त की सब चिन्ता दूर की।

राजा भोज का सपना।

[स्वर्गवासी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द द्वारा लिखित

वह कौनसा मनुष्य है जिसने म
राजा महाराज भोज का नाम न
उसकी महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत
रही है बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते
उठते थे और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव में
जपाते, सेना उसकी समुद्र की तरंगों का
खजाना उसका सोने चाँदी और रत्नों की खान
दान में राजा कर्ण को लोगों के जी से
उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया कोई
में भूखा न सोता और न कोई उधारा
जो वस्तु माँगने आता उसे मोतीचूर मि
गाड़ी चाटना उसे मलमल दीजाती थी
घोड़ों बाँटना और मेह की

मोती बरसाता एक एक श्लोक के लिये ब्राह्मणों को
ज लाख रुपया उठा देता और एक एक दिन में लाख
ज गोदान करता सवालक्ष ब्राह्मणों को षटरस
न कराके तब आप खाने को बैठता तीर्थयात्रा स्नान
और व्रत उपवास में सदा तत्पर रहता बड़े बड़े
ायण किये थे और बड़े बड़े जंगल पहाड़ छान
थे एक दिन शरदृतु में सन्ध्या के समय सुन्दर
गड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुण्ड के तीर जिसमें
और कमलों के बीच जलपक्षी कलोलें कररहे थे
टित सिंहासन पर कोमल तकिये के सहारे से
य चित्त बैठा हुआ महलों की सुनहली कलसियाँ
हुई संगमरमर की गुमज़ियों के पीछे से उदय होता
पूर्णिमा का चाँद देख रहा था और निर्जन एकान्त
के कारण मन ही मन में सोचता कि अहो मैंने अपने
को ऐसा प्रकाश किया जैसे सूर्य से इन कमलों का
स होता है क्या मनुष्य और क्या जीव जन्तु मैंने
सारा जन्म इन्हींके भला करने में गँवाया और
पास करते करते अपने फूल से शरीर को काँटा
जितना मैंने दान दिया उतना तो कभी किसी
न में भी न आया होगा जिन जिन तीर्थों की मैंने
की वहाँ कभी पक्षी ने पर भी न मारा होगा
बढ़ कर अब इस संसार में और कौन पुण्यात्मा है
आगे भी कौन हुआ होगा जो मैं ही कृतकार्य नहीं
र और कौन हो सक्ता है मुझे अपने ईश्वर पर
है वह मुझे अवश्य अच्छी गति देगा ऐसा कब
क्ता है कि मुझे भी कुछ दोष लगे इसी अर्से में

काग चौधरी इन्द्रदत्त निगाह करके श्रीमहा-
मत भोज ने आँख उठाई दीवान ने साष्टांग
की फिर सन्मुख आ हाथ जोड़ यों निवेदन
त्रीनाथ यह कुए सड़क पर जिनके वास्ते
हुक्म दिया था बन कर तैयार हो गये और आम
भी सब जगह लग गये जो पानी पीता है आर
ीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम
है आपकी बढ़ती दौलत मनाता है राजा अति
हुआ और कहा कि सुन मेरी अमलदारी भर में
जहाँ सड़क है कोस कोस पर कुए खुदवा के सदाव
दे और दुतर्फा पेड़ भी जल्द लगवादे इसी अर्स
ध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन कि
धर्मावतार यह जो पाँच हज़ार ब्राह्मण हरसाल आई
ाई पाते हैं सो डेवढ़ी पर हाज़िर हैं राजा ने कहा
च के बदले पचास हज़ार को मिला करे और
ी जगह शाल दुशाला दिया जावे दानाध्यक्ष ने
लाने के वास्ते तोशेखाने में गया इमारत के द
ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि महारा
बड़ा मन्दिर जिसके जल्द बना देने के वास्ते सब
हुक्म हुआ है आज उसकी नेव खुद गई पत्थ
जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं महाराज
ने तिउरियाँ बदल कर उस दारोगा को खूब घुड़का और
कहा कि मूर्ख यहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है
बिलकुल मन्दिर संगमरमर और संगमूसा से बनाया
जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में
आवे जिसमें भगवान् भी उसे देख कर प्रसन्न हो जावें

मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे यह
कर सारा दरबार पुकार उठा कि धन्य महाराज, धन्य
न हो जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो आपने इस कलि-
को सत्ययुग बना दिया मानो धर्म का उद्धार करने
इस जगत में अवतार लिया आज आपसे बढ़ कर
दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है हमने तो पहले ही
आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है व्यासजी ने कथा
म्भ को भजन कीर्त्तन होने लगा चाँद सिर पर चढ़
घड़ियाली ने निवेदन किया कि महाराज रात
ी के निकट पहुँची राजा की आँखों में नींद छा रही
यासजी कथा कहते थे पर राजा को ऊँघ आती थी
र रनवास में गया जड़ाऊ पलंग और फूलों की
पर सोया रानियाँ पैर दाबने लगीं राजाजी की
झपक गई स्वप्न में क्या देखता है कि यह बड़ा
परमेश्वर का मन्दिर बनकर बिलकुल तैयार होगया
कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है तो
की और सफ़ाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया
हाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है तो जवा-
को पत्थरों में जड़ कर तसवीर का नमूना बना दिया
हीं लालों के गुलालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं
ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाये हैं कहीं
ाओं की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों
टे लगाए हैं सोने की चोबों पर कमख़ाब के शामि-
और उनके नीचे बिल्लौर के हौज़ों में गुलाब और
के फुहारे छूट रहे हैं मनों धूप जल रहा है सैकड़ों
के दीपक जल रहे हैं राजा देखते ही मारे घमण्ड

लकर मशक बन गया कभी नीचे कभी ऊपर: कभी
कभी बायें निगाह करता और मन में सोचता कि
अब इतने पर भी मुझे कोई स्वर्ग में घुसने से
गा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा मुझे अपने कर्मों
भरोसा है दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा इसी
र्ग में वह राजा उस सपने के मन्दिर में खड़ा खड़ा क्या
खता है कि एक जोत सी उसके साम्हने आसमान से
तरी चली आती है उसका प्रकाश तो हज़ारों सूर्य से भी
धिक है परन्तु जैसे सूर्य को बादल घेर लेता है इ
प्रकार उसने अपने मुँह पर एक घूँघट डाल लिया
नहीं तो राजा की आँखें कब उस पर ठहर सकती
वरन इस घूँघट पर भी मारे चकाचौंध के झपकी च
जाती थीं राजा उसे देखते ही काँप उठा और लड़खड़
सी ज़बान से बोला कि हे महाराज! आप कौन हैं और
पास किस प्रयोजन से आये हैं वैसी उस पुरुष ने
की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य
अंधों की आँखें खोलता हूँ मैं उनके आगे से धोखे की
हटाता हूँ मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिट
और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूँ हे भो
कुछ हिम्मत रखता है तो आ हमारे साथ आ और
तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मन्दिरों का
इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे हैं राज
पर एक अजब दहशत सी छागई नीची निगा
गरदन झुकाने लगा सत्य बोला भोज तू डर
अपने मरने का हाल जानने में भी भय लगता
कहा कि नहीं इस बात से तो नहीं डरता क्योंकि जिस

अपने तईं नहीं जाना उसने फिर क्या जाना सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूलसा शरीर काँटा बनाया ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खज़ाना खाली कर डाला कोई तीर्थ बाक़ी न रक्खा कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा ऐसा कोई आदमी नहीं है जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ सत्य बोला ठीक पर भोज यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है क्या हवा में बिना धूप असरेणु कभी दिखलाई देते हैं पर सूर्य्य की किरन पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं पर जब उस शीशे को लगा कर देखो जिससे छोटी चीज़ बड़ी नज़र आती है तो एक एक बूंद में हज़ारों ही जीव सूझने लग जाते हैं पस जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिये डरता नहीं तो आ मेरे साथ आ मैं तेरी आँखें खोलूँगा निदान सत्य यह कहके राजा को मन्दिर के उस बड़े ऊँचे दरवाज़े पर चढ़ा लेगया कि जहाँ से सारा बाग़ दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज मैं अभी तेरे पापकर्म्मों का कुछ भी चर्चा नहीं करता क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रक्खा है पर यह तो बतला कि तूने पुण्यकर्म कौन कौन से किये हैं कि उनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सन्तुष्ट होगा। राजा यह सुनके अत्यन्त प्रसन्न हुआ यह तो मानों उसके मन की बात थी पुण्यकर्म के नाम

चित्त को कमलसा खिला दिया उसे निश्चय पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो पर मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप भी पासंगे में न ठहरेगा राजा को वहाँ उस समय में तीन पेड़ बड़े ऊँचे ऊँचे अपनी आँख के साम्हने दिये फलों से इतने लदे हुए कि मारे बोझ के की टहनियाँ धरती तक झुकगई थीं राजा उन्हें देखते हरा होगया और बोला कि सत्य यह ईश्वर की भक्ति र जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों प्रीति के पेड़ हैं देख फलों के बोझ से धरती पर नये ाते हैं यह तीनों मेरे ही लगाये हैं पहले में तो यह सब लाल लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में यह पीले पीले मेरे न्याय से और तीसरे में यह सब सफ़ेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखलाते हैं मानो उस समय चारों ओर से यह ध्वनि राजा के कान में चली आती थी कि धन्य हो महाराज धन्य हो आज तुमसा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं तुम साक्षात् धर्म का अवतार हो इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में भी तुम्हें इससे अधिक मिलेगा तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखों में निर्दोष और निष्पाप हो सूर्य के मण्डल में लोग कलंक बतलाते हैं पर तुम्हें एक छींटा भी नहीं लगाते सत्य बोला कि भोज जब मैं इन पेड़ों के पास से आया था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है तब तो उनमें फल फूल कुछ भी नहीं था निरे ठूंठ से खड़े थे यह लाल पीले और सफ़ेद फल कहाँ से आगये यह सचमुच उन पेड़ों में

फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और खुश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिये हैं चल उन पेड़ों के पास चलकर देखें तो सही मेरी समझ में तो यह लाल लाल फल जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है यश और कीर्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाये हैं निदान ज्योंहीं सत्य ने उस पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया राजा सपने में क्या देखता है कि वह सारे फल जैसे आसमान से ओले गिरते हैं एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े धरती सारी लाल होगई पर पेड़ों पर सिवाय पत्तों के और कुछ न रहा सत्य ने कहा कि राजा जैसे कोई किसी चीज़ को मोम से चिपकाता है उसी तरह तूने अपने भुलाने को प्रशंसा पाने की इच्छा से यह फल इस पेड़ पर लगा लिये थे सत्य के तेज से वह मोम गल गया पेड़ ठूंठ का ठूंठ रह गया जो कुछ तूने दिया और किया सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिये केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया यदि कुछ दिया हो या किया हो तो तूही क्यों नहीं बतलाता मूर्ख इसीके भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था भोज ने एक ठंढी साँस ली उसने तो औरों को भूला समझा था पर वह सब से अधिक भूला हुआ निकला सत्य ने उस पेड़ की तरफ़ हाथ बढ़ाया जो सोने की तरह चमकते पीले पीले फलों से लदा हुआ था सत्य का हाथ पास पहुँचते ही इसका भी वही हाल होगया जो पहले का हुआ था सत्य बोला कि राजा इस पेड़ में ये फल तूने अपने भुलाने को स्वर्ग को

ने सिद्ध की इच्छा से लगा लिये थे करनेवाले ने ठीक
ता है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उनके मन की
वना विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की
वना के अनुसार उनके कर्मों का हिसाब लेता है तू
च्छी तरह जानता है कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़
है जो न्याय न करे तो फिर वह राज्य तेरे हाथ में क्यों
कर रह सके जिस राज्य में न्याय नहीं वह तो बेनेव का
घर है पुड़िया के दानों की तरह हिलता है अब गिरा
तब गिरा मूर्ख तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा
न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक सुख पाने
की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की
दया से मोम के माथे पर पसीना हो आया आँखें
नीची करलीं अथाव कुछ न बन पड़ा तीसरे पेड़ की
पारी आई सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी यही हालत
हुई राजा अत्यन्त लज्जित हुआ सत्य ने कहा कि मूर्ख
यह तेरे तप के फल कदापि नहीं इनको तो इस पेड़
पर तेरे अहंकार ने लगा रक्खा था यह कौनसा व्रत था
तीर्थयात्रा है जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति
और जीवों की दया से किया हो तूने यह तप इसी
वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तईं औरों से अच्छा
और बढ़के विचारे ऐसे ही तप पर गोवरगनेश तू स्वर्ग
मिलने की उम्मेद रखता है पर यह तो बतला कि मन्दिर
की उन मुड़ेरों पर ये जानवर से क्या दिखलाई देते हैं
कैसे सुन्दर और प्यारे मालूम होते हैं पर तो उनके पो
के हैं और गरदनें फ़ीरोज़ की लेकिन तुम में तो स
किस्म के जवाहिर जड़ दिये हैं राजा के जी में, धम

की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली मानों बुझते हुए दीये की तरह जगजगा उठा जल्दी से जवाब दिया कि हे सत्य यह जो कुछ तू मन्दिर की मुंडेरों पर देखता है मेरे सन्ध्या-वन्दन का प्रभाव है मैंने जो रातों जाग जाग कर और माथा रगड़ते रगड़ते इस मन्दिर की दहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति वन्दना और विनती प्रार्थना की है वही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं मानों ईश्वर के सामने पहुँच कर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं सत्य ने कहा कि राजा दीनबन्धु करुणा-सागर श्रीजगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की विनती सदा सुनता रहता है और जो मनुष्य शुद्धहृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का दुक भी निवेदन करता है वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य चाँद को बेध कर पार होजाता है फिर क्या कारण कि यह सब अब तक मन्दिर की मुंडेर ही पर बैठे रहे आ चल देखें तो सही हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकट कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं भोज डरा लेकिन सत्य का साथ न छोड़ा जब मुंडेर पर पहुँचा तो क्या देखता है कि वह सारे जानवर जो दूर से ऐसे सुन्दर दिखलाई देते थे मरे हुए पड़े हैं पंख नुचे खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए यहाँ तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा दो एक ने जिनमें कुछ दम बाकी था जो उड़ने का इरादा भी किया तो उनका पंख पारे की तरह भारी होगया और उन्हें उसी ठौर दबा रक्खा तड़फा ज़रूर किये पर

ने ज़रा भी न दिया सत्य बोला भोज बस यही तेरे
य कर्म्म हैं इन्हीं स्तुति वंदना और बिनती प्रार्थना के
से पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है सूरत तो इनकी
त अच्छी है पर जान बिल्कुल नहीं तूने जो कुछ
या केवल लोगों के दिखलाने को जी से कुछ भी नहीं
तू एक बार भी जी से पुकारा होता कि दीनबन्धु
ानाथ दीनाहितकारी मुझ पापी महाअपराधी डूबते
को बचा और कृपादृष्टि कर तो वह तेरी पुकार
की तरह तारों से पार पहुँची होती राजा ने सिर
ा करलिया उत्तर कुछ न बन आया सत्य ने कहा
भोज अब आ फिर इस मन्दिर के अंदर चलें और
तेरे मन के मन्दिर को जाँचें यद्यपि मनुष्य के मन के
दर में ऐसे ऐसे अँधेरे तहखाने और तलघरे पड़े हुए
कि उनको सिवाय सर्वदर्शी घट घट अन्तर्यामी
ल जगत् स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा
सकता तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जावेगा राजा
सत्य के पीछे खिचा खिचा फिर मन्दिर के अन्दर
पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ होगया
मुच सपने का खेलसा दिखलाई दिया चाँदी की सारी
क जाती रही सोने की बिल्कुल दमक उड़ गई दोनों
लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ और जहाँ जहाँ से
म्मा उड़गया था भीतर का ईंट पत्थर कैसा
दिखलाई देता था जवाहिरों की जगह केवल काले
दाग रहगये थे और संगमरमर की चट्टानों में हाथ
भर गहरे गढ़े पड़ गये थे। राजा यह देखकर
कसा रहगया औसान जाते रहे हक्का बक्का बन गया

धीमी आवाज़ से पूँछा कि यह टिड्डीदल की तरह इतने दाग़ इस मन्दिर में कहाँ से आये जिधर मैं निगाह उठाता हूँ सिवाय काले काले दाग़ों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता ऐसा तो छीपी छींट को भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा देख पड़ेगा सत्य बोला कि राजा ये दाग़ जो तुझे इस मन्दिर में दिखलाई देते हैं वे दुर्वचन हैं जो दिन रात में सैकड़ों बार तेरे मुख से निकले याद तो कर तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने को क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और क्या दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबरवाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखाने को कितना झूठ बोला है अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आँखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ़ पाने के लिये कैसी कैसी शेखियाँ हाँकी हैं और किस किस तरह की लनतरानियाँ मारी हैं अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं सो तुझे अब कुछ भी याद न रहा बिल्कुल एक बारगी भूल गया पर यहाँ यह तेरे मुँह से निकलते ही यहीं में दर्ज हुआ तू इन दाग़ों के गिनने में असमर्थ है पर उस घट घट निवासी अनन्त अविनासी की एक एक बात जो तेरे मुँह से निकली है याद है और याद रहेगी उसके निकट भूत और भविष्य दोनों वर्त्तमान सा है भोज ने सिर न उठाया पर उसी दबी ज़बान से इतना

मुँह से और निकाला कि दाप तो दाप पर ये हाथ हाथ भर के गढ़े क्योंकर पड़ गये सोने चाँदी में मोर्चा लग कर ये ईंट पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे सत्य ने कहा कि राजा क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली ठोली नहीं मारी अरे नादान यह बोली ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है तू तो इन गढ़ों ही को देख कर रोता है पर तेरे ताने तो बहुतों को छातियों से पार होगये जब अहंकार का मोर्चा लगा तो फिर यह दिखलाये का मुलम्मा कब तक ठहर सक्ता है स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट पत्थर प्रकट हो आया राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रक्खा था मारे बू के सिर फटा जाता था भनगे और पतंगों से सारा मकान भर गया था बीच बीच में पंखवाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे राजा घबड़ा कर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफ़त में पड़ा इन कमबख़्तों को यहाँ किसने आने दिया सत्य बोला राजा सिवाय तेरे इनको यहाँ और कौन आने देगा तू ही तो इन सब को लाया है यह सब तेरे मन की बुरी वासना है तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठ कर मिट जाती हैं पर रे मूढ़ याद रख कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच विचार कोई नहीं आता जो जगत्कर्त्ता प्राण-दाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं होजाता यह चिम-गादड़ और भनगे और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़े जो तुझे दिखलाई देते हैं ये सब काम क्रोध मोह लोभ मत्सर अभिमान मद ईर्षा के संकल्प विकल्प हैं जो दिन

रात तेरे अन्तःकरण में उठा किये और इन्हीं चिमगादड़ और भुनगे और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्कमाल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुन्दर स्त्री देखकर उस पर दिल न चला राजा ने एक बड़ी लम्बी ठण्डी साँस ली और अत्यन्त निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं इस संसार में निष्पाप रहना बड़ा कठिन है जो पुण्य करना चाहते हैं उसमें भी पाप निकल आता है इस संसार में पाप से रहित कोई भी नहीं ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं सारा मन्दिर बरन सारी धरती और आकाश गूंज उठा कोई भी नहीं कोई भी नहीं ॥

सत्य ने जो आँख उठाकर उस मन्दिर की एक दीवार की तरफ़ देखा तो वह उसी दम संगमरमर से आइना बन गई राजा से कहा कि अब टुक इस आइने का भी तमाशा देख और जो कर्त्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले राजा उस आइने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं उस प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलतीं और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आइने में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाने पहिनने को दे सक्ता था पर न देकर दान का रुपया

न्हीं हट्टे कट्टे मोटे मुष्टण्ड खाते पीते हुओं को देता रा
ो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफ़ारिश
ाते थे या उसके कारदारों को घूँस देकर मिला लेते
सवारी के समय माँगते माँगते और शोर गुल मचाते
वाते उसे तंग कर डालते थे या दर्बार में आकर उसे
ज्ञा के भँवर में गिरा देते थे या झूठा छापा तिलक
ा कर उसे मक के जाल में फँसा लेते थे या जन्मपत्र
भले बुरे ग्रह बतला कर कुछ धमकी भी दिखलादेते थे
सुन्दर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को
ाते थे कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिन पर
ा के कारदार ज़ुल्म किया करते थे और उसने
भी उसकी तहक़ीक़ात और उपाय न की न कभी
बीमारों को देखता जिनका चंगा करा देना राजा
क्तियार में था कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति
ारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के दो बात कहने
एडा और सन्तुष्ट हो सक्ता था कभी अपने लड़का
कों को देखता जिन्हें यह पढ़ा लिखा कर अच्छी
ी बातें सिखा कर बड़े बड़े पापों से बचा सक्ता
भी उन गाँव और इलाक़ा को देखता जिनमें कूएँ
व खुदवाने और किसानों को मदद देने और उन्हें
बारी की नई नई तर्कीबें बतलाने से हज़ारों ग़रीबों
ला कर सक्ता था कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों
खता जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफ़िरों
राम पहुँचा सक्ता था राजा से अधिक देखा
का थोड़ी देर में घबरा कर हाथों से अपन
को ढाँप लिया वह अपने घमंड में उन सब काम

को तो सदा याद रखता था और उनका चरचा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किये हुए समझे हुए था पर उन कर्त्तव्य कामों का कभी टुक भी सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था सत्य बोला राजा अभी से क्यों घबरा गया आ इधर आ इस दूसरे आइने में मैं तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूँ जो तूने अपनी उमर में किये हैं राजा ने हाथ जोड़े और पुकारा बस महाराज बस कीजिये जो कुछ देखा उसीमें मैं मिट्टी होगया कुछ भी बाक़ी न रहा अब आगे क्षमा कीजिये पर यह तो बतलाइये कि आपने यहाँ आकर मेरे शर्बत में क्यों ज़हर घोला और पकी पकाई खीर में सांप का विष उगला और आपने मेरे आनन्द को इस मन्दिर में आके नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् क अर्पण किया है चाहे जैसा वह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है सत्य ने कहा ठीक पर यह तो बतला कि भगवान् इस मन्दिर में बैठा है यदि तूने भगवान् को इस मन्दिर में बिठाया होता तो फिर वह अशुद्ध क्यों रहता ज़रा आँख उठा कर उस मूर्त्ति को तो देख जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है राजा ने जो आँख उठाई तो क्या देखता है कि वहाँ उस बड़ी ऊँची वेदी पर उसीकी मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रक्खी है और अभिमान की पगड़ी बाँधे हुए सत्य ने कहा कि मूर्ख तूने जो काम किये केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की सदा तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिये तूने अपनी आप पूजा की रे मूर्ख सकल जगत् स्वामी घट घट

अन्तर्यामी क्या ऐसे मनहरी मन्दिरों में
सिंहासन बिछने देता है जो अभिमान और प्रति
की इच्छा इत्यादि से भरा है ये तो उसकी विज
के योग्य है मन्त्र का इतना कहना था कि मा
एक बारगी काँप उठी मानों उसी दम टुकड़ा
हुआ चाहती थी आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि
प्रलय काल का मेघ गरजा दीवार मन्दिर की चारों
से भर भरा कर गिर पड़ी गोया उस पापी राज
दवाही लेना चाहती थी और उस अहङ्कार की मूर्ति
ऐसी एक बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे
था पड़ी त्राहि मां त्राहि मां मैं हूया मैं हूया कह के मो
जो चिल्लाया आँख उसकी खुल गई और सपना सपन
होगया। इस अर्से में रात बीत कर सवेरा होगया थ
आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी चिड़ियाँ
चहचहा रही थीं एक ओर से शीतल मन्द सुगन्ध हवा
चली आती थी दूसरे ओर से बीन और मृदङ्ग की ध्वनि
बन्दीजन राजा का यश गाने लगे हरकारे हर तरफ़
काम को दौड़े कमल खिले कमोद कुम्हलाये राजा पलंग
से उठा पर जी भारी माथा थामे हुए न हवा अच्छी
लगती थी न गाने बजाने की कुछ सुध बुध थी उठते ही
पहले यह हुक्म दिया कि इस नगर में जो अच्छे से
अच्छे पण्डित हों जल्द उनको मेरे पास लाओ मैंने एक
सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग
सपना मालूम होता है उस सपने के स्मरण ही से मेरे
रोंगटे खड़े हुए जाते हैं राजा के मुख से इतना
ही देर थी चोबदारों ने तीर

वसिष्ठ याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे बात की बात में राजा के साम्हने ला खड़ा किया राजा का मुँह पीला पड़ गया था माथे पर पसीना हो आया था पूछा कि यह कौनसा उपाय है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे उनमें से एक बड़े बूढ़े पण्डित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि धर्म्मराज धर्म्मावतार यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिये आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा सन्देह क्यों उत्पन्न हुआ आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहनके बेखटके परमेश्वर के साम्हने जाइये न तो वह कहीं से फटा कटा है और न किसी जगह से मैला कुचैला हुआ है राजा क्रोध कर के बोला कि बस अधिक अपनी वाणी को परिश्रम न दीजिये और इसी दम अपने घर की राह लीजिये क्या आप फिर उस पर्दे को डाला चाहते हैं जो सत्य ने मेरे साम्हने से हटाया और बुद्धि की आँखों को बंद किया चाहते हैं जिन्हें सत्य ने खोला उस पवित्र परमात्मा के साम्हने अन्याय कभी नहीं ठहर सक्ता मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश होजाऊँगा मेरा कहीं पता भी न लगेगा इतने में दूसरा पण्डित बोल उठा कि महाराज परब्रह्म परमात्मा तो आनन्द स्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने किनारा पाया है वह क्या हमारे इन छोटे छोटे कामों पर निगाह किया करता है एक कृपादृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है राजा ने आँखें दिखलाके कहा कि महाराज आप भी अपने घर को सिधारिये आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया कि

यह किसी पापी को सज़ा ही नहीं देता सब धान बाईस पसेरी तोलता है मानो हरभोगपुर का राज करता है इस संसार में क्यों नहीं देखलेते जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूर लगाता है वह कांटे चुनता है तो क्या उस लोक में जो जैसा करेगा सर्वदर्शी घट घट अन्तर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा सारी सृष्टि पुकार कहती है और हमारा अन्तःकरण भी इस बात पर गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा तब तीसरा पण्डित आगे बढ़ा और यों ज़बान खोली कि महाराजाधिराज परमेश्वर के यहाँ से हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा कि जैसा हम लोग काम करते हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं आप बहुत यथार्थ फ़र्माते हैं परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा पर यह इतने प्रायश्चित्त और होम और यज्ञ और जप तप तीर्थयात्रा किस लिये बनाये गये हैं यह इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और बैकुण्ठ में अपने पास रहने को ठौर देवे राजा ने कहा देवताओ कलतक तो मैं आपकी सब बात मान सक्ता था लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई नहीं दिखलाई देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे वह कौन सा जप तप तीर्थयात्रा होम यज्ञ और प्रायश्चित्त है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आजावे आदमी का फुसला लेना तो सहज है पर उस घट घट के अन्तर्यामी को कोई क्योंकर फुसलावे जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है तो फिर उससे

एप कर्म कोई कहाँ बन आये पहले आप उस स्वप्न को
निये जो मैंने रात को देखा है तब फिर पीछे यह उपाय
तलाइये जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा
ता है ॥

निदान राजा ने जो कुछ रात को सपने में देखा था
थ ज्यों का त्यों उस पण्डित को कह सुनाया पण्डित जी
सुनते ही अवाक होगये सिर झुका लिया राजा ने
राश होकर चाहा कि तुषानल में जल मरे पर एक
देसी आदमी जो उन पण्डितों के साथ बिना बुलाये
त आया था सोचता विचारता उठकर खड़ा हुआ और
रे से यों निवेदन किया कि महाराज हम लोगों का
ी ऐसा दीनबन्धु कृपासिन्धु है कि अपने मिलने की
आपही बतला देता है आप निराश न हूजिये पर उस
को ढूँढ़िये आप इन पण्डितों के कहने में न आइये
उसीसे उस राह पाने की सच्चे जी से मदद माँगिये
ाठकजनो क्या तुम भी भोज की तरह ढूँढ़ते हो और
वान् से उसके मिलने की प्रार्थना करते हो भगवान्
शीघ्र ऐसी बुद्धि दे और अपनी राह पर चलावे यही
रा अन्तःकरण से आशीर्वाद है ॥

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ ॥

शकुन्तला।

[राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवादित शकुन्तला नाटक से]

[राजा दुष्यन्त इन्द्र का निमन्त्रण पाकर युद्ध में योग देने के लिये इन्द्रपुरी अमरावती में गये थे। वहां युद्ध समाप्त होगया है। विजयी राजा दुष्यन्त इन्द्र से सम्मान पाकर मर्त्यलोक में आरहे हैं। मातलि रथ चला रहा है।]

अंक ७।

[दुष्यन्त और मातलि रथ पर बैठे हुए आकाश से उतरते हैं।]

दुष्यन्त–हे मातलि ! यह तो सच है कि मैंने इन्द्र की आज्ञा पाली परन्तु फिर भी मैं अपने को इस बड़े आदर के योग्य नहीं जानता हूँ जो देवनायक ने मुझे दिया।

मातलि (हंसकर)–महाराज ! दोनों को यही सङ्कोच है।

दोहा।

तुम हरि को एतो कियो यदपि बड़ो उपकार,
ताहि न मानत हो कछू देखि इन्द्र सत्कार।
जानि तुम्हारी वीरता चकित यहूं मनमाहिं,
दियो इतो आदर तऊ गिनत ताहि कछु नाहिं॥

दुष्यन्त-ऐसा मत कहो इन्द्र ने विदा करते समय मेरा इतना सन्मान किया जितने की आशा न थी क्योंकि देवताओं के देखते मुझे आधी गद्दी पर बिठाया और—

चौपाई।

हि मिलनकी धरि मन आसा, ठाढ़ो हो जयन्त हू पासा।
। माला मन्दार सुमन की, लै उरते लिपटी चन्दन की।
से मुसकाय सुवन की ओरी, कृपा दीठि मोतन हरि मोरी।
ने कर मेरे गल डारी, यह आदर दीनों मुहि भारी।

ातलि-हे राजा! देवताओं से आप किस किस सत्कार के योग्य नहीं हो?

दोहा।

सुर पुर को है ही कियो दानव कंटक दूर।
आगे नख नरसिंह के अब तेरे शर क्रूर।

दुष्यन्त-हमको इस यश का मिलना भी देवनायक की महिमा का ही फल है क्योंकि:—

चौपाई।

ज सिद्ध बड़ो जय होई, सेवक जन हाथन ते कोई।
न तासु जानि मन लीजे, स्वामि कृपा सन्देह न कीजे।
ु कहाँ इतनो बल पावे, रैनि अँधेरो आप मिटावे।
ठौर, चाकों यदि नाहीं, रवि अपने आगे रथ माहीं।

ातलि-ठीक है। (थोड़ी दूर चलकर) हे राजा! इधर स्वर्ग तक पहुँचे हुए यश

दोहा।

सुरयुवतिन अँगरागतें, बचे कछू जो रंग।
तिनसों देवा लिखत ये, तेरे चरित प्रसंग।
आछे सुरतरु पतन पै, मधुरे गीत बनाय।
सोचत बैठे सरस पद, गहरो ध्यान लगाय।

दुष्यन्त-हे मातलि! दानवों को मारने के उत्साह में पहले दिन इधर से जाते हुए हमने स्वर्गमार्ग भली भाँति नहीं देखा था अब तुम कहो इस समय हम पवनों के किस पन्थ में चलते हैं?

मातलि-

दोहा।

यह मग हरि पावन कियो, दूजो पैंड़ पढ़ाय।
है याको वह पवन जो, परिवह जाति कहाय।
यही पवन नभगंग कों, नितप्रति रहो बहाय।
बाँटि किरन इत उत यही, ओतिन देत घुमाय।

दुष्यन्त-हे मातलि! इसीसे मेरा आत्मा बाहर भीतर के इन्द्रियों सहित आनन्द को पहुँचा है। (रथ के पहियों को देखकर) अब तो हम मेघों के मार्ग में उतर आए।

मातलि-यह आपने क्यों कर जाना?

दुष्यन्त-

दोहा।

निकसि अरन के बीच हैं, इत उत चातक जात।
तुरगन दूब के अग्र पै, बिन्दु खड़ा लहरात।
भीगे पहिया मेह में, रथ ही देत बताय।
नीर भरे बदरान पै, अब पहुँचे हम आय।

मातलि-अभी एक क्षण में आप अपने राज्य में पहुँचते हैं।

दुष्यन्त (नीचे देखकर)-वेग से उतरने में मनुष्यलोक अचरज सा दीखता है।

चौपाई।

दीखति शैल शिखर उठतीसी, पुहुमिजाति नीचे खसतीसी।
रहे रूख जो पात ढके से, लगत कन्ध तिनके निकसेसे।
सरित लखी जो मनहुसुखानी, परत दीठि उनमें अब पानी।
आवत लोकहु ओर हमारी, जिमि ऊपरको दियो उछारी।

मातलि-आपने भला देखा। (पृथिवी को आदर से देखकर) अहा! मनुष्यलोक कैसा रमनीक दिखाई देता है?

दुष्यन्त-मातलि! बतलाओ तो पूरब पच्छिम के समुद्रों के बीच यह कौनसा पहाड़ है जिससे सुनहरी धारा ऐसी निकलती है मानों सन्ध्या के मेघ से अर्गला।

मातलि-महाराज! यह तपस्या का क्षेत्र किन्नरों का हेमकूटनाम पर्वत है।

दोहा।

सुत मरीचि नाती कुवज, देवदनुज के तात।
तपत यहाँ परजापती, सहित सुरन की मात।

दुष्यन्त-तौ कल्याण प्राप्त [illegible] अवसरको चूकना न चाहिये [illegible] करके चलेंगे।

मातलि-यह विचार [illegible] है।

उतरते हैं

मुद्राराक्षस।

[भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने महाकवि विशाखदत्त के संस्कृत मुद्राराक्षस का अनुवाद किया है। उसीके प्रथम अङ्क से उद्धृत।]

(नन्दकुल के नाश के अनन्तर कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने अपने गुप्तचर जहाँ तहाँ भेजे थे। उनके भेजे गुप्तचर भेष बदलकर अपना अपना काम करते थे। उन्हीं गुप्तचरों में यह विपुलक भी था जो भिक्षुक का भेष बनाकर इसका पता लगाता फिरता था कि कौन कौन चन्द्रगुप्त से द्वेष रखते हैं।)

[जम का चित्र हाथ में लिये, जोगी का भेष धारण किये दूत आता है।]

दूत० अरे, और देव को काम नहिं, जमको करो प्रनाम।
जो दूजे के भक्त को, प्रान हरत परिनाम॥ १७॥

---

१ इससे ऐसे भी भिक्षुक होते थे जो यम का चित्र दिखला कर भीख माँगते थे।

और

उलटे हूं ते बनत हैं, काज किये अति हेत।
जो जम जी सब को हरत, सोई जीविका देत॥

तो इस घर में चलकर जमपट दिखाकर गावें।

[घूमता है]

रा० रावलजी! ड्योढ़ी के भीतर न जाना।

त० अरे ब्राह्मण! यह किसका घर है?

ज० हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरू चाणक्यजी का।

त० (हँसकर) अरे ब्राह्मण! तब तो यह मेरे गुरुभाई ही का घर है। मुझे भीतर जाने दे। मैं उसको धर्म्मोपदेश करूँगा।

० (क्रोध से) छिः मूर्ख! क्या तू गुरूजी से भी विशेष धर्म्म जानता है?

० अरे ब्राह्मण! क्रोध मतकर, सभी सब कुछ नहीं जानते। कुछ तेरा गुरू जानता है कुछ मेरे ऐसे लोग जानते हैं।

(क्रोध से) मूर्ख! क्या तेरे कहने से गुरूजी की सर्व्वज्ञता उड़ जायगी?

भला ब्राह्मण जो तेरा गुरू सब जानता है तो बतलावे कि चन्द्र किसको नहीं अच्छा लगता?

मूर्ख, इसको जानने से गुरू को क्या काम?

यही तो कहता हूँ कि यह तेरा गुरू ही समझेगा कि इसके जानने से क्या होता है तू तो सूधा

मनुष्य है । तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चन्द्र प्यारा नहीं है । देख—

दोहा ।

जदपि होत सुन्दर कमल, उलटो तदपि सुभाय ।
जो नित पूरनचन्द सों, करत विरोध बनाय ॥

चा० (हंसकर आप ही आप) अहा ! मैं चन्द्रगुप्त के वैरियों को जानता हूँ यह कोई गूढ़ वचन से कहता है ।

शि० चल मूर्ख, क्या बेठिकाने की बकवाद कर रहा है ।

दूत० अरे ब्राह्मण ! यह सब ठिकाने की बातें होंगी !

शि० कैसे होंगी ?

दूत० जो कोई सुननेवाला और समझनेवाला होगा ।

चा० रावलजी बेखटके चले आइये यहाँ आपको सुनने और समझने वाले मिलेंगे ।

दूत० आया (आगे बढ़ कर) जय हो महाराज की ।

चा० (देखकर आप ही आप) कामों की भीड़ से यह नहीं निश्चय होता कि निपुणक को किस बात के जानने के लिये भेजा था ! अरे जाना । इसे लोगों के जी का भेद लेने को भेजा था । (प्रकाश) आओ आओ कहो अच्छे हो बैठो ।

दूत० जो आज्ञा (भूमि पर बैठता है)

चा० कहो जिस काम को गये थे उसका क्या किया ? चन्द्रगुप्त को लोग चाहते हैं कि नहीं ?

दूत० महाराज आपने पहले ही से ऐसा प्रबन्ध किया है कि कोई चन्द्रगुप्त से विराग न करे । इस हेतु

सारी प्रजा महाराज चन्द्रगुप्त में अनुरक्त है पर राक्षस मन्त्री के दृढ़ मित्र तीन ऐसे हैं जो चन्द्रगुप्त की वृद्धि नहीं सह सकते।

चा० (क्रोध से) अरे! कह कौन अपना जीवन नहीं सह सकते! उनके नाम तू जानता है?

दूत० जो नाम नहीं जानता तो आपके सामने क्योंकर निवेदन करता!

चा० मैं सुना चाहता हूँ कि उनके क्या नाम हैं?

दूत० महाराज सुनिये पहिले तो शत्रु का पक्षपात करने वाला क्षपणक है।

चा० (हर्ष से आप ही आप) हमारे शत्रुओं का पक्षपाती क्षपणक है! (प्रकाश) उसका नाम क्या है?

दूत० जीवसिद्धि नाम है?

चा० तूने कैसे जाना कि क्षपणक मेरे शत्रुओं का पक्षपाती है?

दूत० क्योंकि उसने राक्षस मन्त्री के कहने से देव पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग किया।

चा० (आप ही आप) जीवसिद्धि तो हमारा गुप्त दूत है। (प्रकाश) हाँ और कौन है?

दूत० महाराज दूसरा राक्षस मन्त्री का प्यारा सखा शकटदास कायथ है।

चा० (हँसकर आप ही आप) कायथ कोई बड़ी बात नहीं है। तो भी क्षुद्र शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये इसी हेतु तो मैंने सिद्धार्थक को उसका मित्र बना कर उसके पास रक्खा है। (प्रकाश) हाँ तीसरा कौन है?

दूत० (हँसकर) तीसरा तो राक्षस मन्त्री का मानों हृदय ही पुष्पपुरवासी चन्दनदास नामक यह बड़ा जौहरी है, जिसके घर में मन्त्री राक्षस अपना कुटुम्ब छोड़ गया है।

चा० (आप ही आप) अरे यह उसका बड़ा अंतरङ्ग मित्र होगा, क्योंकि पूरे विश्वास बिना राक्षस अपना कुटुम्ब यों न छोड़ जाता। (प्रकाश) भला तूने यह कैसे जाना कि राक्षस मन्त्री यहाँ अपना कुटुम्ब छोड़ गया ?

दूत० महाराज इस मोहर की अंगूठी से आपको विश्वास होगा (अंगूठी देता है)

चा० अंगूठी लेकर और उसमें राक्षस का नाम बाँच कर प्रसन्न होकर (आप ही आप) अहा ! मैं समझता हूँ कि राक्षस ही मेरे हाथ लगा। (प्रकाश) भला तुमने यह अंगूठी कैसे पाई मुझसे सब वृत्तान्त तो कहो।

दूत० सुनिये जब मुझे आपने नगर के लोगों का भेद लेने भेजा, तब मैंने यह सोचा कि बिना भेष बदले मैं दूसरे के घर में न घुसने पाऊँगा। इससे मैं जोगी का भेष करके जमराज का चित्र हाथ में लिये फिरता फिरता चन्दनदास जौहरी के घर में चला गया और वहाँ चित्र फैला कर गीत गाने लगा।

चा० हाँ, तब !

दूत० तब महाराज कौतुक देखने को एक पाँच बरस का बड़ा सुन्दर बालक एक परदे की आड़ से

बाहर निकला। उस समय परदे के भीतर स्त्रियों में बड़ा कलकल हुआ कि लड़का कहाँ गया। इतने में एक स्त्री ने द्वार के बाहर मुख निकाल कर देखा और वह लड़के को झट पकड़ लेगई। पर पुरुष की अंगुली से स्त्री की अंगुली पतली होती है इससे द्वार ही पर अंगूठी गिर पड़ी और मैं उस पर राक्षस मन्त्री का नाम देखकर आपके पास उठा लाया।

चा० वाह! वाह!! क्यों नहीं! अच्छा जाओ मैंने सब सुन लिया तुम्हें इसका फल शीघ्र ही मिलेगा।

दूत० जो आज्ञा (जाता है।)

चा० शारंगरव! शारंगरव!

शि० (आकर) आज्ञा गुरुजी?

चा० बेटा! कलम दवात कागज तो ला।

शि० जो आज्ञा (बाहर जाकर ले आता है) गुरुजी ले आया।

चा० (लेकर आपही आप) क्या लिखूँ? इसी पत्र से राक्षस को जीतना है।

(पटाक्षेप।)

काश्मीर यात्रा।

[१]

(बा० कार्तिकप्रसाद खत्री लिखित)

श्री कामाख्या तीर्थ और आसाम देश के दुर्गम दुरारोह उच्च भूधरशृङ्ग और गहन वन, सरस सरसी, निर्झर-निर्झरी, विविध कुसुम भरी दरी आदि चित्तचमत्कारी मनोहारी अद्भुत अलौकिक अकथनीय प्राकृतिक शोभामयी विधाता की कौशलपूर्ण लीलाभूमि को निहार, चकितचित्त उन स्थानों में ऐसा लुब्ध होगया था कि वहाँ से उतर आने पर भी हृदय-पट पर खचित व चमत्कारिक चित्र आठों पहर मेरे नयनों के आगे झूला ही करता और मन-पखेरू वैसी ही अटवी में विचरने को उत्कण्ठित रहा करता।

अनेक भाषाओं के अनेक ग्रन्थों के पढ़ने और सुनने से यह लालसा चित्त में हो आई कि तुषारधारी, नगराज-दुलारी, स्वर्गोपम, श्रीनगर नगरी को देखें कि जिसके सुयश गान में सुमत क्षेमेन्द्र, हेलाराज, नीलमुनि, पद्मामिहिर, छविल्लभट्ट, कल्हण, जोनराज, श्रीवरराज, प्राज्यभट्ट आदि

कवीन्द्रों की भारती की सुरस वीणा मधुर झङ्कार झङ्कारती ही रही—जिसे दिल्लीश्वर यवन सम्राटों ने "विहिश्त" की उपाधि दी; जिस भूस्वर्ग की शोभा निहारने के लिये सुन्दर योरुप और अमेरिका से प्रतिवर्ष विपुल धन व्ययकर और अनेक कष्ट सहकर परिव्राजक जन आते हैं तथा प्रसिद्ध डाक्टर निव्स और डाक्टर एवट् आदि ने जिसे स्वर्ग की उपमा दी है। परन्तु सुअवसर न पाने के कारण उसकी बाट देख रहा था। धन्य है! उस सर्वशक्ति-सम्पन्न उस जगदीश्वर को कि जिसकी अनुकम्पा से, बिना आस और प्रयास के अनायास एक ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ कि काश्मीर जाना निश्चित होगया।

श्रीनगर वर्णन।

श्रीनगर काश्मीर की राजधानी है। समुद्रतट से ५५०० फ़ीट की ऊँचाई पर बसा हुआ है, तथा काश्मीर प्रदेश के मध्य में स्थित है। वितस्ता नदी नगर के बीचोंबीच से बही है। नदी के दोनों तटों पर नगर की बस्ती है और यह बस्ती कोस भर की लम्बाई में है। इसमें अनुमान बारह लाख मनुष्यों का निवास है, जिनमें छः आने हिन्दू और दस आने मुसलमान तथा अपर जाति के लोग हैं। वितस्ता नदी नगर के उत्तर-पश्चिम प्रवाहित है। यह अति प्राचीन नगरी है। प्रायः एक हज़ार पाँच सौ वर्ष हुए राजा प्रवरसेन ने इस नगर को फिर से बसाया था। नगर के मध्य में नदी की गहराई बारह तेरह हाथ रहती है। नदी का जल पीने योग्य नहीं रहता, प्रायः यहाँ वाले झरनों ही का जल पीते हैं। परन्तु साधारण जन इसीके जल में

पना निर्वाह करते हैं। नदी के आरपार जाने के लिये
गर में लकड़ी के सात पुल बने हुए हैं। इन पुलों के रहने
दोनों तट एक ही से होरहे हैं। परन्तु इन पुलों की
नावट बड़ी ही विचित्र है। अर्थात् बड़े बड़े लट्ठे पूर्व
श्चिम उत्तर दक्षिण, एक पर एक धरे हैं। बीच बीच में
ौखूँटे छेद हैं, जिनमें बड़े भारी भारी अनगढ़ ढोंके पत्थरों
के भरे हैं। इनसे न तो जल ही रुकता है और न जल का
वेग ही लगता है। ये पुल ऊँचे भी इतने हैं कि इनके नीचे
से नावें अच्छी तरह निकल जाती हैं। वर्षाकाल में नदी
का वेग अति प्रखर हो जाया करता है। उस समय
उजान नाव खेव कर ले जाना बड़ा ही कठिन होजाता
है। इस ऋतु में मल्लाह प्रायः गून खींच कर ले जाया करते
हैं। नदी में ऐसी बाढ़ आती है कि आस पास की बस्ती
तक जल पहुँच जाया करता है। उस समय यहाँ के निवा-
सियों को बड़ा कष्ट होता है। नदी के तट पर ही बड़े बड़े
अनेक मकान बने हुए हैं। ये जल के इतने निकट हैं कि
गृहस्थ के घरों की स्त्रियाँ प्रायः ऊपर ही से डोरी लटका
कर, जल भर लिया करती हैं। मकानों में पत्थर का काम
बहुत ही न्यून है; पर लकड़ियों पर अच्छी अच्छी कारी-
गरी दिखाई देती है। खिड़की और झरोखों में बड़ी
सुन्दर सुन्दर लकड़ी की जालियां बनी हुई हैं। शीतकाल
में जिस समय बरफ़ गिरती है, उस समय उन जालियों में
एक प्रकार के बाँस का बना महीन काग़ज़ लगा देते हैं।
प्रायः सभी मकानों की छतें कच्ची होती हैं। वर्षा ऋतु
में उन पर घास का जङ्गल सा उग आता है। परन्तु अब
जो नवीन मकान बने हैं या बन रहे हैं उनके छज्जे ढक

अङ्गरेज़ीपन के हैं; क्योंकि ये प्रायः इञ्जिनियरों द्वारा बनवाए जाते हैं। आशा है कुछ काल बाद इनी गिनी पुरानी हवेलियाँ रह जायँगी और धीरे धीरे नये ढङ्ग ही के मकान बन जायँगे। इस समय जो मकान हैं, उनमें अधिकांश लकड़ी के होने के कारण प्रतिवर्ष अग्नि का बड़ा ही कोप होता है, और बस्ती की बस्ती अग्नि-कोप से भस्म होजाया करती है। इसलिये जहाँतक लकड़ी के मकानों की प्रथा उठ जाय वहाँ तक अच्छा ही है।

श्रीनगर जिसका नाम है, जो जगत् प्रसिद्ध काश्मीर की राजधानी है, उस नगर की भीतरी अवस्था को देख बड़ा ही खेद हुआ। क्योंकि प्रथम तो इसकी जो कुछ नामी इमारतें हैं, वे सब तो नदी तट ही पर हैं, नगर के अन्दर न तो कोई ऐसा दर्शनीय स्थान ही है और न कोई सजावट ही है। छोटी छोटी गलियों में बाज़ार हैं, ऊपर लोग रहते हैं, नीचे दूकानें हैं। परन्तु गली कूचा बाज़ार सभी गन्दा है।

अब जब से अङ्गरेज़ीपन का प्रवेश हुआ, म्यूनिसिपैलटी आदि का प्रबन्ध हुआ; तब से कुछ सफाई हो चली है। पक्की नालियाँ बन गई हैं। सड़कें बुहारी जाती हैं, नालियाँ धोई जाती हैं। इससे आशा है कि काल पाकर नगर की सफाई होजायगी।

नगर में प्रवेश करते ही नदी के दोनों ओर महाराज साहब के बनवाए महल और इमारतें, अङ्गरेज़ मुसाफ़िरों के टिकने के लिये अङ्गरेज़ी कोठियाँ, रज़ीडेण्टी कोठी, अस्पताल, डाक्टर साहब तथा प्रधान विचारपति बाबू ऋषिवर मुखोपाध्याय का मकान है। जिसे भूतपूर्व दीवान

बा० लीलाम्बर मुखोपाध्याय ने बनवाया था। श्रीचतुर्भुज जी का मन्दिर आदि सुन्दर सुन्दर इमारतें हैं। नदी पर से इनकी जो छटाएँ दिखाई देती हैं, वे अकथनीय हैं।

नदी के तट पर बाएँ ओर जो कई सुन्दर सुन्दर मकान दिखाई देते हैं वे प्राचीन शेरगढ़ी नामक स्थान में बने हुए हैं[1]। इसी स्थान में अर्थात् शेरगढ़ी में हाईकोर्ट और प्रधान राजकर्मचारियों के वासभवन हैं। उसीके निकट एक अति विशाल राजभवन है जो नदी तट पर ही बना हुआ है। श्रीमान् महाराज श्रीप्रतापसिंहजी प्रायः इसीमें रहा करते हैं। इसीके निकट श्रीगदाधरजी का अति बृहत् मन्दिर है कि जिसका शिखर स्वर्णखचित होने के कारण ऐसा चमकीला होरहा है कि जिस पर प्रातःकाल के सूर्य की किरणों के पड़ने से देखने वालों के नेत्रों में चकाचौंधसा लगता है। इस मन्दिर के निकट टेकीकदल नामक पुल के नीचे से एक बृहत् नाला बहता है जो पश्चिम ओर घूमता हुआ नयाकदल के नीचे से बहकर फिर नदी में आ मिला है। इसी नाले के किनारे सर राजा रामसिंहजू का बनवाया महल है। यह नयी चाल का बड़ा ही सुन्दर बना है। उसीके सामने एक पुष्पवाटिका है जिसकी सजावट देखे ही बन आती है। इन दोनों स्थानों में जाने आने के लिये नाले के ऊपर ही ऊपर एक सुदृढ़ सेतु बना है। इस पुल पर अनेक प्रकार के लता पत्र पुष्पों के गमले सजे हुए हैं। नाव पर से इसकी शोभा बड़ी ही

---

१ शेरगढ़ी के चारों ओर जो दीवारें हैं वे ४०० गज लम्बी, २०० गज चौड़ी तथा २२ फुट ऊँची हैं।

सुन्दर दिखलाई देती है। इससे कुछ आगे बड़े श्रीमहाराज साहब की बड़ी छोटी अनेक भाँति की नावें नदी में शोभित हैं। इन नावों की बनावट और इन पर की चित्रकारी अत्यन्त प्रशंसनीय है और ये बहुमूल्य हैं। कुछ आगे बड़ एक नाला है, जिसे "मार्कवेल केनेल" और उस देशवाले उसे "नालीभार" कहते हैं। इसके तट पर महाजनों की कोठियाँ, पशमीने वालों की दूकानों की दुमहली, तिमहली, चौमहली सुन्दर सुन्दर कोठियाँ हैं। प्रायः इन मकानों के नीचे पक्के घाट बनेहुए हैं और अपनी अपनी छोटी छोटी सुन्दर नावें बँधी रहती हैं। इधर जैसे भिन्न भिन्न देशों में लोग गाड़ी-घोड़ा, इक्का, रथ, बहली आदि रखते हैं, उधर वैसे ही लोग नावें रखते हैं। सिवाय नाव के और कोई सवारी खुश्की के लिये श्रीनगर में नहीं दिखलाई देती है।

इस नालीभार के सिवाय और दो प्रसिद्ध नाले हैं जिन्हें "सन्तईकृत" "कृवईकृत" कहते हैं।

यहाँ का प्रसिद्ध बाज़ार महाराजगञ्ज है। यह कलकत्ते के कटरों ऐसा बना हुआ है। इस स्थान में सौदागरी की प्रायः सब प्रकार की वस्तुएं मिलती हैं। विशेष कर भ्रमणकारी अङ्गरेज़ों तथा मेमों की अच्छी भीड़भाड़ रहा करती है और बहुत से दलाल भी यहाँ घूमा करते हैं जो अपनी टूटी फूटी अङ्गरेज़ी बोल विदेशियों के पीछे लगजाया करते हैं।

श्रीनगर जैसा नदी तट पर बसा हुआ है, यदि बनारस के ऐसे भारी भारी घाट वहाँ होते तो ठीक काशी ही सी छटा दिखलाई देती। परन्तु यह कब सम्भव है, तो भी

नाव पर जिस समय जाओ, उस समय दोनों
की भेरी देखने वालों के मन को मोहती है। मे
से ऐसी शोभा भी दूसरे स्थान में कहीं न होगी

रणीडगडी पहुंचे के दक्षिण ओर नदी में कु
दीपा (टापू) पड़ गया है। इसमें अनेक अन
भी हैं। प्रायः ढंग डालकर अङ्गरेज़ लोग यहां
यह स्थान भी नगर भर में एक ही है। इसकी
देखने ही योग्य है। सड़कों पर मीराकदल से
तक एक लम्बी चौड़ी सड़क अब अच्छी बन ग
के समय इसके दोनों ओर लालटेनें भी
लालमण्डी में बारहदरी में कभी कभी महार
आये हुए अङ्गरेज़ों को न्योता देकर भोजन क
नाच तमाशा दिखाते हैं।

वितस्ता नदी के उत्तर तट पर महाराज स्ताह
बहुत लम्बा चौड़ा उद्यान है। इसका नाम बसन
प्रतिवर्ष कार्त्तिक के महीने में श्रीमहाराज स्ताह
से अन्नकूट और गोवर्द्धन पूजा का यहां अ
हुआ करता है। इस उत्सव पर दीन दुखियों
को अन्न बटता है।

✿ ✿ ✿

पशमीने का काम।

यों तो प्राकृतिक शोभा जल वायु की उत्तम
अनेक प्रकार की शोभा का काश्मीर में मानो
है, उसमें भी हाथ की अनेक प्रकार की उत्तम उ
बनाने वाले हैं। जिनमें से एक शाल का काम ही

कर सके। औरों की कौन कहें योरुप वाले तथा अमेरिका वाले, जो आज कल दस्तकारी में जगत् में प्रसिद्ध होरहे हैं, इन काश्मीरी जुलाहों से बहुत पीछे हटे हैं। तात्पर्य यह है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी अभी तक काश्मीरी शालों की समता न कर पाये। कुछ आज ही नहीं, अति प्राचीन काल से काश्मीर अपनी इस कारीगरी के लिये सब से बढ़ा चढ़ा है।

काश्मीरी शाल, काश्मीरी बकरियों के नरम और लम्बे रोंओं से बनते हैं। जितना उत्तम रोंआँ होगा, उतना ही उत्तम शाल बनेगा। प्रत्येक बकरी के अङ्ग पर से छटाँक आधपाव से अधिक रोंआँ नहीं निकलता। इसीसे साधारण पशम की अपेक्षा यह बहुमूल्य होता है। एक तो थोड़ा होता है, दूसरे इसे बनाने में बड़ा परिश्रम और व्यय होता है। पहले तो चुनकर रोंआँ कतरते हैं, फिर साफ कर उसे कातते हैं। अनन्तर वह रङ्गा जाता है।

दुशाले भी कई प्रकार के होते हैं। पहले तो हल्के और कोमल सादे ऊन के। ये ही बहुमूल्यवान् हैं। दूसरे पक्के रङ्ग में रङ्गे हुए। तीसरे पशमीने के, जिनके पर्दे और खोमे तथा बिछावने बनते हैं। क्रमशः उनका मूल्य भी घटता जाता है। जिन लोगों ने देखा है, वे ही कह सकते हैं कि उनके कतरने बनाने रङ्गने और बिनने में कितना परिश्रम करना पड़ता है और समय लगता है।

दुशालों के पहले छोटे छोटे टुकड़े होते हैं। फिर पीछे वे जोड़े जाते हैं। जिस स्थान में दुशाले बनते हैं, वे भी देखने ही के योग्य हैं।

काश्मीर की उपज।

यहाँ की पृथिवी बड़ी उपजाऊ है विशेष कर फलों के लिये तो बड़ी ही उत्तम है। यहाँ सेब, नाशपाती, बेरी, बोखारा, गिलास, अंगूर आदि बड़े ही स्वादिष्ट फल उत्पन्न होते हैं और अधिक होने के कारण बहुत सस्ते भी होते हैं। इनके सिवाय अनार, अखरोट, बादाम भी बहुत होते हैं और सस्ते बिकते हैं—जैसे हमारे यहाँ मूली गाजर आम अमरूद चनों निर्धन मनमाने खाते हैं; वैसे ही ऊपर कहे फल यहाँ वाले खाते हैं। अमलोग आदि और भी अनेक प्रकार के फल होते हैं, अन्न भी प्रायः सब प्रकार के उपजते हैं, लकड़ी भी यहाँ के जङ्गलों में अनेक प्रकार की होती हैं। चीड़ और देवदारु अधिक काम में आती हैं। पत्र पुष्प तथा वृक्षों की यहाँ अनेक जातियाँ हैं कि जिनमें से अनेक यहाँ विलायती नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ की फुलवारी, यहाँ के जङ्गल, यहाँ के गाँव—सभी शोभामय सुन्दर सुहावने होते हैं। सभी डहडहाते हरे भरे रहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि काश्मीर की धरती को विधाता ने बड़ी ही सुरम्य बनाई है।

काश्मीर के निवासी।

यहाँ की प्राकृतिक शोभा जैसी मनोमुग्धकारिणी है तदनुकूल यहाँ के स्त्री-पुरुष भी अधिकांश सुन्दर होते हैं यह तो पहले ही कह आये हैं कि हिन्दुओं से मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक है, परन्तु विशेषता यह है कि हिन्दू मुसलमानों में सद्भाव अधिक है और परस्पर इनमें अधिक छूतछात व जातीय द्वेष तथा घृणा भी नहीं है

उस देश के हिन्दूमात्र के घरों में अब भी मुसलम
पनभरे निर्द्वन्द पानी भरते हैं। यहाँ के वैकुण्ठवा
महाराजाओं ने इस प्रथा को उठाना बहुत चाहा, पर
यह प्रथा कुछ ऐसी बद्धमूल होगयी है कि उनका प्रयत्न
निष्फल होगया। कई एक पण्डितों से हमने पूँछा भी
पुराने समय में मुसलमानी राज्य में यदि किसी का
से यह निन्द्य प्रथा चल भी गई थी, तो अब तो
लोगों को इस दूषित प्रथा को बदल देना चाहिये। क्यों
इसमें बड़ी ही निन्दा है। इसके उत्तर में वे यही बोले
यह हमारे यहाँ की प्रथा पड़ गई है। अब इसका उठ
असम्भव सा हो गया है। आचार धर्म यहाँ बहुत न्यू
को प्राप्त हो गया है। नाम तो पण्डित परन्तु प्रायः स
मांसाहारी हैं। अब विरले कुछ लोग ऐसे भी पाये
हैं जो निरामिषभोजी हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत
थोड़ी है। काश्मीरी लोग बड़े हृष्टपुष्ट दीर्घकाय और प
गौरवर्ण होते हैं। सिर पर पगड़ी या बड़ा मुरेठा बाँ
और एक छोटी लङ्गोटी के ऊपर पाँवों तक लम्बा लबाद
पहनते हैं। उसके अन्दर काङ्गड़ी सुलगते हुए अङ्गारे
भरी गले में लटकाये रहते हैं ललाट पर चन्दन के
का तिलक लगाते हैं। ऐसे शीतप्रधान देश में भी
स्नान सन्ध्यावन्दन आदि का प्रचार है। इनमें भी
श्रेणी हैं एक तो निपट पण्डित-जिनकी केवल पुरोहि
वृत्ति है। यह तो उनका हाल है। और जो राजका
नौकरी करते हैं उनकी चाल ढाल बहुत कुछ बदल
अर्थात् समयानुसार नई रोशनी की छाया धीरे धीरे
पर पड़ने लगी है। ये लोग अधिकांश चूड़ीदार पाय

पारसीकोट और मुरेठा बाँधते हैं। इनके आचार व्यवहार में भी अनेक बातों में भिन्नता आगयी है और आती जाती है। आगे काश्मीरी पण्डित प्रायः फ़ारसी में अच्छे निपुण हुआ करते थे; परन्तु अब तो वहाँ भी अंग्रेज़ों का प्रभाव बढ़ चला है। किसी समय काश्मीर में संस्कृत के बड़े बड़े योग्य प्रसिद्ध पण्डित होगये हैं; जिनकी विद्या की विमल कीर्त्ति आज जगत् में उनका गुण गा रही है। ज्योतिष-शास्त्र की भी यहाँ अच्छी उन्नति हुई थी। परन्तु जब मुसलमानों का भाग्य चमका तब धीरे धीरे संस्कृत तो घटने लगी और फ़ारसी की विद्या बढ़ने लगी। अब धीरे धीरे फ़ारसी के स्थान को अङ्गरेज़ी अधिकार करती जाती है। सदा से काश्मीर में उत्तम लेखक होते आये हैं और अभीतक हैं कि जिनका नागरी और फ़ारसी लेख बड़ा ही सुन्दर होता है।

काश्मीर की स्त्रियाँ।

स्त्रियाँ यहाँ की बड़ी रूपवती होती हैं। परन्तु विशेष कर उच्चकुलवालीं। पहनावा यहाँ की सब जाति की स्त्रियों का एक ही सा होता है। लम्बा चोलना अर्थात् एड़ी तक का कुर्त्ता पहनती हैं और मस्तक पर गोल पिटारीदार टोपी भी पहनती हैं। ब्राह्मणियों की टोपी लाल रङ्ग की होती है। जब बड़े घर की स्त्रियाँ बाहर निकलती हैं, तब चोलने के ऊपर से एक चादर ओढ़ लिया करती हैं। ये चादरें प्रायः लट्ठलाट की होती हैं। यहाँ की स्त्रियों के केश बहुत लम्बे तो नहीं होते, परन्तु आवश्यक घने भी नहीं होते, जिन्हें गूंथ कर ये चोटी बनाती हैं। आभूषण

बहुत तो नहीं पहनतीं, परन्तु जो भी कान मस्तक और हाथों में पहनती हैं। ईश्वर ने इन्हें ऐसा रूप दिया है कि इसके आगे उन्हें वस्त्र आभूषण की विशेष आवश्यकता भी नहीं रहती।

[सरस्वती से

पारसीकोट और मुरेठा बाँधते हैं। इनके आचार व्यवहार में भी अनेक बातों में भिन्नता आगयी है और आती जाती है। आगे काश्मीरी पण्डित प्रायः फ़ारसी में अच्छे निपुण हुआ करते थे; परन्तु अब तो वहाँ भी अंग्रेज़ी का प्रभाव बढ़ चला है। किसी समय काश्मीर में संस्कृत के बड़े बड़े योग्य प्रसिद्ध पण्डित होगये हैं; जिनकी विद्या की विमल कीर्त्ति आज जगत् में उनका गुण गा रही है। ज्योतिष-शास्त्र की भी यहाँ अच्छी उन्नति हुई थी। परन्तु जब मुसलमानों का भाग्य चमका तब धीरे धीरे संस्कृत तो घटने लगी और फ़ारसी की विद्या बढ़ने लगी। अब धीरे धीरे फ़ारसी के स्थान को अङ्गरेज़ी अधिकार करती जाती है। सदा से काश्मीर में उत्तम लेखक होते आये हैं और अभीतक हैं कि जिनका नागरी और फ़ारसी लेख बड़ा ही सुन्दर होता है।

काश्मीर की स्त्रियाँ।

स्त्रियाँ यहाँ की बड़ी रूपवती होती हैं। परन्तु विशेष कर उच्चकुलवालीं। पहनावा यहाँ की सब जाति की स्त्रियों का एक ही सा होता है। लम्बा चोलना अर्थात् एड़ी तक का कुर्त्ता पहनती हैं और मस्तक पर गोल पिटारीदार टोपी भी पहनती हैं। ब्राह्मणियों की टोपी लाल रङ्ग की होती है। जब बड़े घर की स्त्रियाँ बाहर निकलती हैं, तब चोलने के ऊपर से एक चादर ओढ़ लिया करती हैं। ये चादरें प्रायः लट्ठलाट की होती हैं। यहाँ की स्त्रियों के केश बहुत लम्बे तो नहीं होते, परन्तु अत्यन्त छोटे भी नहीं होते, जिन्हें गूंथ कर ये चोटी बनाती हैं। आभूषण

बहुत तो नहीं पहनतीं, परन्तु तो भी कान मस्तक और हाथों में पहनती हैं। ईश्वर ने इन्हें ऐसा रूप दिया है कि इसके आगे उन्हें वस्त्र आभूषण की विशेष आवश्यकता ही नहीं रहती।

[सरस्वती से

इन दोनों कर्मों में लिप्त पुरुष, जग में अपयश के भागी होते हैं। यही नहीं, किन्तु मादक द्रव्य सेवन करने वाले लोग नाना प्रकार के बुरे रोगों के आश्रयस्थल बन जाते हैं। अन्तिम परिणाम यह होता है कि ऐसे लोग या तो आत्मघात कर मानवीलीला संवरण करते हैं अथवा उनका यह देवदुर्लभ मनुष्यतन, उनको आजन्म भर असह्य भार प्रतीत होने लगता है।

अति भोजन, अनेक प्रकार के रोगों का आदिकारण है। मनुष्य को भोजन इतना करना चाहिये, कि भोजन कर चुकने पर वह घोड़े की सवारी पर दो कोस तक जा सके। चाहे जैसा छोटे से छोटा काम क्यों न हो, पर उसे दूसरे पर छोड़ कर स्वयं निश्चिन्त मत हो जाना। स्वयं अपने नेत्रों से देखने की बान डालना। अपने अधीनस्थ लोगों के यथासम्भव अपराध क्षमा करना, सहसा उन की वृत्ति अपहृत न करनी चाहिये। लोकभेद से दण्डभेद भी करना समुचित है। जहाँ तक हो, प्रजा का धन और ऐश्वर्य बढ़ाने का उद्योग करते रहना। क्योंकि राजा का राज्य सुदृढ़ इसीसे होता है। जिस राजा की प्रजा मूर्ख और दरिद्र होती है, उस राजा का राज्य टिकाऊ नहीं होता।

व्यय अपने वित्तानुसार करना। कृपणों की तरह धन सञ्चित करना और काम पड़ने पर विरक्त की तरह उसे उड़ाना। नौकरों के साथ उनकी पद मर्यादा के अनुसार बर्तना। निज भोग विलास के अर्थ प्रजा से एक कौड़ी भी मत लेना। ईश्वर जब जैसी अवस्था में रखे, तब उसी दशा में सन्तोषपूर्वक रहना। पर सावधान स्वधर्म का

परित्याग कभी मत करना और न शिष्टाचार के विरुद्ध कभी कोई काम करना।

जब तक विचारा हुआ कार्य पूरा न हो; तब तक उसे सर्वसाधारण में प्रकट न होने देना। राजनीतिज्ञों ने कहा है-" जो मेरी मूँछ के बाल भी मेरी मंत्रणा सुन लें; तो मैं उन्हें भी मुड़वा डालूँ।" इसका अभिप्राय यह नहीं है कि तुम स्वेच्छाचारी बनो, नहीं; अपने से बुद्धि और विद्या में जो श्रेष्ठ हों, उनसे परामर्श लेकर काम करो।

राजा चाहे कितना ही अधिक बुद्धिमान् क्यों न हो, पर मंत्री सुचतुर होना चाहिये।

काल।

[स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र लिखित।]

संसारमें जो कुछ देखा सुना जाता है सब इन्हीं दो अक्षरों के अन्तर्गत है। इसका पूरा भेद पाना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। क्योंकि

यदि :-

नृपति सेन सम्पति सचिव, सुत कलत्र परिवार।
करत सबन को स्वप्नसम, नमो काल करतार॥

के अनुसार इसे ईश्वर का रूपान्तर न मानिये तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अनादि और अनन्त एवं अनेक रूपधारी तथापि अरूप यह भी है। इसी कारण बहुत से महात्माओं ने परमात्मा का नाम महाकाल रक्खा है, पर हमारी समझ में जो स्वयं महत्त्वविशिष्ट है उसके नाम में महा का शब्द जोड़ना व्यर्थ ही नहीं, किन्तु एक रीति से हँसी करना है। ब्राह्मण को महाब्राह्मण कहने से कोई प्रशंसा का द्योतन नहीं होता। केवल काल ही कहने से पूरी स्तुति हो जाती है। जिन्होंने परमात्मा को

अकाल कहा है वे भी न जाने क्या समझे थे। नहीं तो जो सब काल में विद्यमान है वह अकाल क्यों? उसे तो नित्य कहना चाहिये। काल से यहाँ हमारा अभिप्राय मृत्यु से नहीं, किन्तु समय से है। मृत्यु का यह नाम केवल इस लिये पड़ गया है कि उसके लिये एक निश्चित और अटल काल नियत है। पर सूक्ष्म विचार से देखिये तो सभी बातें काल के अधीन हैं। वृक्ष लगा के सींचते सींचते सिर मारिये, जबतक उसके फलने का काल न आवेगा तब तक फल का दर्शन न होगा। इसी प्रकार जिधर दृष्टि फैलाइये यही देखियेगा कि सब कुछ काल के अधीन है। बिना काल कभी कहीं कुछ हो ही नहीं सक्ता। यों उद्योग करना पुरुष का धर्म है। उसमें लगे रहो। आलस्य बड़ी बुरी बात है। उसे छोड़ो पर यह भी स्मरण रक्खो काल बड़ा बली है। वह अपने अवसर पर सब कुछ करा लेता है। या यों कहिये कि आप कर लेता है। आप बड़े उद्योगी हैं पर तन मन धन सब निछावर कर दीजिये हम आपकी ओर दृष्टि भी न करेंगे, साथ देना कैसा? हम बड़े भारी आलसी हैं, पर जब पास पल्ले कुछ न रहेगा और स्वाभाविक आवश्यकताएँ सतावेंगी तब विवश हो, हाथ पाँव अथवा जिह्वा किसी काम में लगावेंगे; जिससे निर्वाह हो। इसीसे बुद्धिमान् लोग कह गये हैं कि मनुष्य को काल का अनुसरण करना चाहिये—ज़माने के तेवर पहिचानना चाहिये। जो लोग ऐसा नहीं करते वे या तो बीते हुए काल की दशा पर घमण्ड करके अपने लिये काँटे बोते हैं अथवा आगामी काल की कल्पित आशा में पड़ के हानि सहते हैं

करना हो वर्तमान की गति के अनुसार करें। जो लोग अपने काल के अनेक पुरुषों की चाल ढाल परिवर्तित कर देने के लिये प्रसिद्ध होगए हैं, वे वास्तव में साधारण व्यक्ति न थे। उन्हें मूर्ख समझिये चाहे मनीषी कहिये, पर थे थे बड़े! किन्तु उस बड़प्पन का कारण काल ही के अनुसरण पर निर्भर था। जिन्होंने यह विचार कर काम किया कि हमारे पूर्व इतने दिनों से जनता इस ढर्रे पर झुक रही है, अतः इधर ही के अनुकूल पुरुषार्थ दिखाना उत्तम होगा उनकी मनोरथ सिद्धि बड़ी सरलता से हुई। क्योंकि जिस बात को वे चलाना चाहते थे, उसके अवयव पहिले ही से प्रस्तुत थे। इस कारण वे अपने काम में बड़े सन्तोष के साथ कृतकार्य हुए, पर जिन्होंने कालचक्र की चाल और सहकालीन लोगों की रुचि न पहिचान कर, अपना काम फैलाया; वे मरने के पीछे चाहे जैसे गौरवास्पद हुए हों, उनके उत्तराधिकारियों ने चाहे जितनी कृतकृत्यता प्राप्त की हो; पर अपने जीवनकाल को उन्होंने अपमान कष्ट और हानि ही सहते सहते बिताया। वे आज हमारी दृष्टि में प्रतिष्ठास्पद तो हैं; पर विचारशक्ति उनमें यह दोष लगा सकती है कि या तो उनमें ज़माने के तेवर पहिचानने की शक्ति न थी या जान बूझ कर तेवर के साथ लड़ाई ठान के वे उलझेड़े में पड़े! उपर्युक्त दोनों प्रकार के उदाहरण प्रत्येक देश के इतिहास में अनेक मिल सकते हैं, पर उन्हें न लिखके भी यदि हम अपने पाठकों से पूछें कि इन दोनों में आपको कौन मार्ग रुचता है तो हम निश्चय यही उत्तर पायेंगे कि काल की चाल के अनुकूल चलनेवाला! क्योंकि सदा सब देशों में बड़े बड़े लोग थोड़े होते हैं जो प्रत्येक कष्ट

और हानि का सामना करने को बद्धपरिकर रहें; पर ऐसे लोगों की संख्या अधिक होती है, जो साधारण रीति से संसार के नित्यनियमों का पालनमात्र अपनी सामर्थ्य का निचोड़ समझते हों और ऐसे लोगों के लिये यही ढर्रा सुभीते का है कि जिधर अनेक सहकालिकों की मनोवृत्ति झुक रही हो, उधर ही ढुलके रहना। इसमें हानि अथवा निन्दा का भय नहीं है, वरञ्च यदि कम परिश्रम सहनशीलता आदि में थोड़ी सी विशेषता निभजाय तो अपना तथा अपने लोगों का बड़ा भारी हित हो सक्ता है, महाबली काल की सहायता मिलती रहती है। इससे जिन्हें हमारे उपदेश कुछ रुचिकारक हों, उनसे हम अनुरोध करते हैं कि बड़े बड़े विचार छोड़के यदि वे सचमुच देश जाति का भला चाहते हों, तो तन मन धन (कुछ न हो सके तो) वचन से थोड़ा बहुत कोई ऐसा काम नित्य करते रहें जो वर्त्तमान समय के बहुत से लोगों ने अच्छा समझ रक्खा हो। बस इसीमें बहुत कुछ हो रहेगा। जिस काल में यह सामर्थ्य है कि सारे जगत् के सर्वोत्कृष्टप्रकाशक सूर्य को आधी रात के समय ऐसा अदृश्य करते हैं कि दूरबीन लगाने से भी न देख पड़े, जिसमें यह शक्ति है कि जड़ चेतनमात्र को प्रफुल्लित करने वाले, सब के जीवन के एकमात्र आधार प्रातःपवन को जेठ वैसाख की दुपहरी में ऐसा बना देते हैं कि लोग उससे जी चुराते हैं, वह यदि तुम्हारा साथी होगा अथवा यों कहो कि तुम यदि उसके अनुगामी होगे, तो क्या कुछ न हो रहेगा ? इसकी यह महिमा है कि जो बातें कभी किसी के ध्यान में नहीं आतीं वरञ्च सोचने से असम्भव जचती हैं उनके लिये, ऐसे ऐसे

योग लगा देता है कि एक दिन वैसा ही हो रहता है। ऐसे महासामर्थी से यह तो विचारना ही न चाहिये कि अमुक बात न हो सकेगी। जो विश्वामर के बालक को बली धनी विद्वान् मनुष्य और बड़े से बड़े मनुष्यरत्न को राख का ढेर बना देता है, वह क्या नहीं कर सकता? उसके तनिक से अस्तव्यस्तन में जो न हो जाय, सो थोड़ा है। आपके शरीर में चाहे सहस्र हाथियों का बल हो, पर काल भगवान् एक दिन की अस्वस्थता में लाठी के सहारे उठने बैठने योग्य बना सकते हैं। किसी के घर में लाखों की सम्पत्ति भरी हो, पर एकरात्रि में चोरों के द्वारा वह भिक्षा माँगने के योग्य कर सकते हैं। फिर इनके सामने किसका घमण्ड रह सकता है? जो लोग समझते हैं कि हमारा देश अमुक अमुक विषयों से दुःखी है, उन्हें विश्वास रखना चाहिये कि कालचक्र (समय का पहिया) प्रतिक्षण घूमता ही रहता है और उसका नियम है कि जो आरा ऊपर है वह अवश्य नीचे आवेगा तथा जो नीचे है वह अवश्य ऊपर जायगा। अतः रात्रि में यह सोचना कि दिन हो होगा नहीं वज्रमूर्खता है। आप कुछ न कीजिये तो भी सब कुछ हो रहेगा, पर यदि हाथ समेटे बैठा रहना न भाता हो, तो अनेक काम हैं जिनमें से एक एक में अनेक अनेक लोग लगे हुए हैं। आप भी किसी में जुट जाइये, पर इतना स्मरण रखियेगा कि जिस काम में काल की गति परखने वाले लगे हों, उसीमें लगने से सुभीता रहेगा, विरुद्ध कार्यवाही में अनेक विघ्नों का भय है। यदि उन्हें झेल भी जाइये तो भी अपने जीते जी तो पहाड़ खोद के चूहा ही निकालियेगा, पीछे से चाहे जो हो, उसमें आ

इसासे अगले लोग कहगये हैं कि काल का स्मरण काल करते रहना चाहिये। यदि यह वाक्य नीरस पड़े तो गोस्वामीजी का यह परम रसीला वचन रखिये :—

"लव निमेष परमान युग, बर्ष कल्प सर चण्ड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदण्ड॥"

के द्वारा लोक परलोक दोनों सुधर सकेंगे और काल अमूल्यता आप से आप समझ में आती रहेगी, ता समझना मुख्य धर्म है।

[आश्रय से

आश्चर्य वृत्तान्त।

[साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास रचित।]

चित्रकूट से कुछ दक्षिण को झुकते पुष्करणी तीर्थ के पास विराधकुण्ड नामक एक तीर्थ है। यहाँ की भूमि भूपहाड़ी[1] के कारण अत्यन्त कठिन और पाषाणमय है। यहाँ लगभग सोलह सत्रह हाथ की चौड़ाई का गोल एक कुवाँ ऐसा गहरा है कि उसके देखने ही से ऐसा आश्चर्य होता है कि इन चट्टानों को तोड़कर इस घोर जङ्गल में यह किस बली ने खुदवाया है। यहाँ एक बात प्रसिद्ध है कि श्रीरामचन्द्र जी ने विराध राक्षस के गाड़ने को गड़हा करने के लिये पृथ्वी में बाण मारा तब पाताल तक छेद होगया था सो यही है। अब तक लोग उसमें बड़े बड़े पत्थरों के ढोके छोड़ते हैं पर वह ऐसा गड़हा है कि खड़का तक नहीं सुन पड़ता। यह कितना गहरा है और कैसा है इसके

---

१ जो पहाड़ पृथ्वी में मिले रहते हैं ऊंचे नहीं होते, वे भूपहाड़ कहलाते हैं।

निश्चय करने को अङ्गरेज़ लोग बहुत दिनों से पीछे पड़े हैं पर अभी तक कुछ पता नहीं लगा। १ मार्च सन् १८८४ ई० को अमेरिका के प्रसिद्ध प्रोफ़ेसर लूफलिर्पा (Loofliro) वहाँ पहुँचे उसीके पास तम्बू तान डेरा डाला और दूरबीन लगा नाप जोख कर यह निश्चय किया कि किनारे की ओर चारों ओर सन्धों से अनेक घास फूस औ पेड़ आदि निकल आये हैं तो यदि किसी किनारे से कुछ लटकाया जायगा तो उन झाड़झंखाड़ों में फँस जायगा। इसलिये जैसे कुए में घरारी पर से बड़ा घड़ा लटकाया जाता है वैसे ही एक बड़ी घरारी पर से कल के द्वारा एक भारी लङ्गर इसके बीचों बीच लटकाया जाय उसीसे इसकी गहराई का पता लगेगा। बस ५ तारीख को कल और लङ्गर मँगाने के लिये बम्बई पत्र भेजा गया और १४ तारीख को सब सामान जा पहुँचा और ३१ मार्च तक खोदखाद गाड़गूड़ कर घरारी ठीक ठीक जमा दी गई।

अब १ एप्रिल को सबेरे सात बजे प्रोफ़ेसर साहब के साथ और भी कई अङ्गरेज़ लोग चारों ओर दूरबीन ले ले कर बैठे और घरारी पर से ४५ मन का लङ्गर लटकाया गया उस गड्ढे में बड़ा ही घोर अन्धकार था इसलिये प्रोफ़ेसर साहब ने इस लङ्गर में एक बड़ा लम्प भी बाँध दिया था कि ज्यों ज्यों वह नीचे जाय त्यों त्यों उजाला भी होता जाय और ऊपर से सब कुछ देख भी पड़ता जाय। बस धीरे धीरे लङ्गर लटकने लगा और उस अन्धेरे में के पेड़, झाड़झंखाड़, मकड़ियों के जाले, साँपों की केंचुलियाँ, बिल और सन्धों में बैठे बिच्छू आदि जन्तु देख पड़ने लगे। प्रोफ़ेसर साहब उसे देख देख अपनी बही में कुछ कुछ

लिखते जाते थे और यह लटकता जाता था
कि दूर होने के कारण अन्त में यह लङ्गर केवल
या तारे ऐसा चमकने लगा औ उसके चारों
अंधेरा देख पड़ने लगा।

नौ बजने के समय साहब ने निश्चय कि
लङ्गर दो माइल और ३३७ तीन सौ सैंतीस ग
चुका था जब पन्द्रह मिनट और बीते तब यह
फने से रुक गया। साहब ने हिसाब किया तो
में ४५० गज़ और नीचे पहुँचा था अर्थात् कुल
और ७८७ गज़ नीचे जा पहुँचा था।

जब उन लोगों ने यह निश्चय किया कि अ
नीचे की ओर लटकाना किसी प्रकार हो ही न
तो हार कर उसे ऊपर ही खींचने लगे। पर
समय उस लङ्गर का बोझा बढ़ जाना देख सा
और लोगों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ और चम
देखने लगे कि देखें लङ्गर के साथ उलझा पु
आता है !! फिर क्रम से पहले धीरे धीरे उस
लालटेन चमकने लगी फिर उसका भी कुछ कु
देख पड़ने लगा फिर जब तक लोग एकटक
देखते ही हैं तब तक तो उस गम्भीर गड़
बड़ी गूंज के साथ ध्वनि भी आने लगी। तब
को और भी आश्चर्य हुआ और ध्यान देक
से जाना गया कि "धीरे धीरे" यह शब्द है
के शब्द का निश्चय होते ही लङ्गर धीरे धीरे

मनुष्य उस लङ्गर से चिपट रहा है। देखते ही साहब ने और लोगों ने भी उसे धीरज धराया कि "घबराओ मत लङ्गर को बल से पकड़े रहो" ज्योंहीं लङ्गर ऊपर आया त्योंहीं कलबल से साहब ने उस मनुष्य को लङ्गर से उतारा औ उसके जाले छुड़ा धूल झाड़ी पर वह मारे घबराहट के एकाएकी बेचैनसा होकर हाँफता हुआ लेट गया।

उसके कपड़े लत्तों से जान पड़ता था कि वह राजपुताने की ओर का रहने वाला किसी भले घर का आदमी है। झट छाया में ले जाकर लोगों ने उसे पानी के छींटे दे हवा कर ठंढा किया घण्टे भर में वह अपने में आया। जल पीने के अनन्तर उसने पूछा कि यह कान स्थान है? और आप लोग क्यों जुटे हैं? ये प्रश्न सुन के लोग और भी चकित हुए, क्योंकि इस समय ये कई बातें आश्चर्य की उपस्थित हुईं कि पहले तो उस विराध-कुण्ड ही की गहराई बहुत लम्बी पाना और फिर उसमें से विचित्र रीति से एक मनुष्य का निकलना तिस पर भी वह मनुष्य राजपुताने की ओर का और फिर भी वह पूछने लगा कि यहाँ से गयाजी कितनी दूर है।

उस समय उन लोगों को गड़हे की गहराई का कौतुक छोड़ इसकी बातें सुनने का एक नया ही कौतुक आ उमगा और चारों ओर से भीड़ों के ठट्ठ जमने लगे।

पहले उसे संक्षेप से यह कह सुनाया गया कि यह चित्रकूट के पास का जङ्गल है और भन्ना पन्ना पत्थर-कछरा बघेरह की राजधानी समीप है। ये पहाड़ भी उसी लगाव के हैं। यहाँ से गयाजी सैकड़ों कोस पर है।

तथा हम लोग आज इस गड्ढे की गहराई नापने को इकट्ठे हुए थे और इसीलिये हम लोगों ने यह लङ्गर लटकाया था। पर इस लङ्गर के साथ आपको देख अब हम लोगों को कैसा आश्चर्य और कौतुक हो रहा है कह नहीं सकते। आप कौन हैं? कहाँ के हैं? कैसे इस गड्ढे में आये? और कब से इसमें हैं? यहाँ का क्या हाल है? हम लोगों को बड़ाही आश्चर्य है कि आप इधर से गिरके भीतर आते तो जीते कैसे? कोई सुरङ्ग होती तो क्या इस अङ्गरेज़ी राज्य में भी छिपी रहती? भूगर्भ की किसी विचित्र सृष्टि के पुरुष होते तो हम लोगों से झटपट बोल चाल कैसे मिलती?

यह सुन वह आदमी और भी आश्चर्य में भर उठा इधर उधर ताकने लगा और बोला कि "क्या! गयाजी सैकड़ों कोस पर है?" वे बोले "हाँ हाँ सैकड़ों कोस पर है" यह सुन वह चार पाँच मिनट तक चुप हो कर मन ही में विचारने लगा कि "ओः परमेश्वर की क्या माया है! मैं कहाँ का रहने वाला, कहाँ सैर करने गया! कहाँ आ पड़ा!! और कहाँ आ निकला!!" फिर कुछ ठठक कर प्रगट बोला कि "अच्छा आप लोगों को मेरा इतिहास सुनने का कुतूहल हो तो सुनिये मैं कहूँगा। मेरी कथा बड़ी लम्बी चौड़ी और आश्चर्यमयी है" फिर जब चारों ओर से "हाँ हाँ कहिये कहिये हमारा बड़ा जी लगा है" यह ध्वनि हुई तो वह बोला कि "अच्छा तो मैं बड़ी दे से प्यासा हूँ थोड़ा जल पीलूँ तो स्वस्थ होकर कहूँ।" उसने उठ कर पास ही वाले एक पहाड़ की चट्टान बीच से झरते हुए झरने का टटका पानी पिया और फि

यह हाथ मुँह धो आँखें मल रूमाल से मुँह पोछता हुआ फिर उसी समाज में आ बैठा और चारों ओर से लोगों को एकटक अपनी ही ओर ताकता हुआ देख अपनी कथा कहने लगा।

"मैं राजपुताने का रहने वाला एक वैश्य हूँ पर मैं बहुत दिनों से कलकत्ते में कोठी का काम करता हूँ और प्रयाग काशी पटने आदि स्थानों में बेर बेर आता जाता रहता हूँ और नये नये नाटकादि तथा सम्वादपत्रों को उलट पुलट किया करता हूँ इसलिये मेरी बोलचाल से आप लोग कुछ भी न पहिचानियेगा कि यह पछाँही है पर हाँ हम लोग अपना वेष नहीं बदलते हैं।

मैं कलकत्ते से अपने पिता का श्राद्ध करने गयाजी आया था। मैं अकेला न था। साथ दस पन्द्रह पुरुष और भी थे। हम लोगों ने तीर्थ में जा विधिपूर्वक श्राद्ध किया। तब इच्छा हुई कि अब गया के इधर उधर घूमकर पहाड़ी की भी हवा खाँय। पहले हम बुद्धगया गये। यह गयाजी के दक्षिण लगभग तीन कोस की दूरी पर है। यहाँ एक बड़ा भारी बुद्ध का मन्दिर है जिसे बहुत पुराना और टूटा फूटा समझ कर पहले ब्रह्मा के बादशाह ने जीर्णोद्धार करवाया था और अब सर्कार अङ्गरेज़ बहादुर की ओर से भी पुनः संस्कार कराया जा चुका है।

सचमुच ऐसा ऊँचा और विशाल मन्दिर मैंने आज तक कहीं कोई नहीं देखा था। यहाँ के स्थान स्थान में बुद्ध के चिह्न देखने से मुझे इस देश में किसी समय बौद्ध मत के पूरे फैल जाने का स्मरण होता था।

यहाँ एक बड़े सम्पन्न महन्त की गद्दी है। इनको यहाँ के

छोटे राजा ही कहना चाहिये। इनके यहाँ साधुओं की
जमात है और विदेशियों को नियम से सीधा मिलता है।
ये लोग शङ्करमतानुयायी हैं इनके देखने से मुझे साथ
ही यह भी स्मरण हुआ कि स्वामी शङ्कराचार्य कैसे प्रतापी
और बौद्धमत के विरुद्ध थे कि जहाँ बौद्ध का मन्दिर वहाँ
साथ ही उनकी गद्दी भी अब तक जम रही है।

फिर हम लोग ब्रह्मयोनि के ऊँचे पहाड़ पर गये। यह
गया के बहुत समीप है। इस पर से गया और साहबगञ्ज
के नगर भर की शोभा देख पड़ती थी। ऐसा जान पड़ता
था कि किसी ने उस नगर का चित्र लिख पैर के पास
धर दिया है। जैसे काशी में और कलकत्ते में घरहरे और
हाईकोर्ट नगर भर की शोभा देखने को ऊँचे ऊँचे स्थान
हैं उन्हींकी टक्कर में मुझे गया में ब्रह्मयोनि का पहाड़
जान पड़ा।

मैं उसे भली भाँति देख भाल कर फिर बस्ती में आया
वहाँ लोगों के मुँह से बराबर के पहाड़ की बड़ी प्रशंसा
सुनी कि यह अभी तक सिद्धस्थान है और यहाँ बहुत
तपस्वी मुनि लोग भी रहते हैं। तब मैं बड़ा उत्कण्ठित
होकर चार पाँच इष्ट मित्र और नौकरों के साथ उस पहाड़
की ओर चला।

यह पहाड़ गया से कुछ दूर पड़ता है और मैं सैलानी
पुरुष इसलिये दूसरे दिन वहाँ पहुँचा। मार्ग में कई एक
गाँव पड़े वहाँ की विचित्र भाषा और विचित्र पहनाव देख
मेरे चित्त में और ही भाव होता था। एक निरे
गयावासी और दूसरे एक टटके मैथिल भी मेरे साथ पड़
गये थे। जब वे एक दूसरे से बातें करते थे तो विचित्र

ही " कहलथू, सुनलथू " औ " कहै छी, सुने छी " की झड़ी सुन पड़ती थी। और तो था ही पर इनकी बात में 'थू' और उनकी बात में 'छी' था।

बराबर नामक पहाड़ दूर ही से देख पड़ने लगा। जान पड़ता था कि यह भी सिर उठा कर हम लोगों को देख रहा है। इसके सब से ऊँचे शिखर पर एक पेड़ भी बड़ा भारी देख पड़ता था जैसे सिर पर तुर्रा हो। इसीके पास एक पहाड़ था उसका नाम लोगों ने कौआ-डोल बताया। यह बात भी लोगों से जानी गई कि इस पर एक बड़ी भारी शिला है यह केवल कौए के बैठने से भी हिल जाती है मैंने भी मान लिया कि क्या आश्चर्य है कोई शिला ऐसी ही तराजू ऐसी होगी जो कौए का बोझा भी किसी ओर न सम्हाल सके।

यों साँझ होते होते हम उस बराबर के पहाड़ की जड़ में पहुँचे। उस समय एक तो साँझ होने के कारण अन्धकार होता ही आता था फिर उस पहाड़ के पेड़ों ने तो गझिन होने के कारण एकाएकी नील ही स्वरूप धारण किया। वह आकाश चूमता हुआ ऊँचा पहाड़, वह श्याम पेड़ों की घटा, वह ठंढी हवा का सरोटा, वह बनैले जन्तुओं का शब्द, वह बड़ी कन्दराओं का गूंजना औ वह एक विलक्षण सन्नाटा इस समय भी मुझको प्रत्यक्ष ही सा जान पड़ता है।

फिर हम लोगों का एक साथी जो मार्ग जानता था, आगे आगे चला हम लोग पीछे पीछे चले। उन्हीं पेड़ों के झमाट में एक ऊँची सी भूमि पर चढ़ना आरम्भ किया। पैर पैर पर भालू का भय उभड़ने लगा। मेरे पास कोई शस्त्र न था

पर मैंने अपनी लड़ी ही कमके थामी। सायधान नेत्रों से चकपका कर चारों ओर देखता हुआ चला।

ऊपर चढ़ जाने से उस मन्द अँधेरे में भी यह देख पड़ने लगा कि यह पहाड़ कछुवाकार चारों ओर घूम गया है औ बीच में इसने थोड़ा आकाश छोड़ दिया है औ इसी पहाड़ी के घर में पूर्व की ओर यह बड़ाय वाली भूमि थी मानों घर में जाने का यह द्वार था। उस समय मुझे मेघना, नेपाल आदि दुर्गम स्थानों का स्मरण होने लगा। यह मेरे चित्त में आया कि ऐसे ही स्थानों में महाराष्ट्रों की फ़ौज लेके शिवाजी क्रीड़ा करते थे।

तब फिर उतार की भूमि आई। एक ने कहा "इस ठिकाने भूत पिशाच अधिक रहते हैं कोई मत छोड़के आगे पीछे मत होना" दूसरे ने कहा "हाँ यहाँ हो बैठ के वे आस लगाये रहते हैं कि हमें कोई गया में पिण्ड दे"। मैं दोनों की बात सुनके मनोमन हँसा औ धीरे से कहा कि "हाँ यह यहाँ के भूत, भालू और बाघ होके विचरते हैं" इतने में रात होगई, चन्द्रमा ऊगे, दूध की सी वर्षा होने लगी, झरनों का जल चमाचम चमकने लगा, हवा से पेड़ों का काँपना देख पड़ने लगा, औ चारों ओर बिखरे हुए काले पत्थर भालुओं का भ्रम देने लगे।

मैं बहुत थक गया था सो चुपचाप एक ऊँचे पत्थर पर बैठ गया, मेरे साथियों में से यह बात किसी ने न जानी और मैंने भी न कहा समझा कि झट साथ होई जाता हूँ कहूँ क्या।

उस उमड़े हुए समुद्र ऐसे पहाड़ में मेरी आँख जा लगी लगभग दो मिनट के मैं इधर ही देखता रहा। फिर चित्त

में कुछ भय हुआ कि लोग यहाँ भूत बतलाते थे कहीं सचमुच ही कोई भूत न आजाय। इधर तो यह डर का अंकुर जमा और उधर देखा कि कोई साथी नहीं सब क्या जाने किधर चले गये! मैं चकचिहा कर देखने लगा इतने ही में तो ऐसा जान पड़ा कि किसी ने पीछे से कन्धे पर धीरे से धक्का दिया। मैं इस स्पर्श का अनुभव करते ही चिहुँक उछल कर एक ओर खड़ा होगया और आश्चर्य तथा भय सहित दृष्टि से पीछे फिर देखने लगा। उधर जो कुछ देखा सो कहते अब भी मुझे रोमाञ्च होता है और हृदय और का और हुआ जाता है॥

[पीयूष प्रवाह से

यूनानी राजदूत और वैष्णव धर्म।

[श्रीमान् पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा लिखित]

प्राचीन शिलालेख और पुस्तक आदि से हिन्दुस्थान में बसने वाले प्राचीन काल के यूनानी (ग्रीक) लोगों में से कितने एक के बौद्धधर्म ग्रहण करने के उदाहरण तो मिल जाते हैं, परन्तु भारतवर्ष के प्राचीन शोध के अध्यक्ष मि० मार्शल साहब के यत्न से गतवर्ष एक शिलालेख मिला जिससे पाया जाता है कि तक्षशिला के यूनानी राजा ऐंटिआल्कि उसका दूत हेलिओडॉरस वैष्णवधर्म के भागवत सम्प्रदाय का अनुयायी था। उस लेख के भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के लिये विशेष उपयोगी होने के कारण हम उसका यहाँ परिचय देते हैं।

सेंट्रल इण्डिया के ग्वालियर राज्य के भेलसा ज़िले का मुख्य स्थान भेलसा (भिलसा) है जो बौद्धों के पवित्र प्राचीन स्तूपों के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ के स्तूपों के विषय में जनरल कनिंगहम साहब ने "भिलसा टोप्स" नाम का

एक बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित किया है । इसी भेलसा से थोड़ी दूर पर बेरुनगर नाम का एक छोटा सा गाँव है जिसके निकट दूर तक प्राचीन काल की इतिहासप्रसिद्ध विदिशा नगरी के खण्डहर हैं, जिनकी छानबीन जनरल कनिंगहम साहब ने सन् १८७७ ईसवी में की, जिसका विस्तृत वर्णन उन्होंने अपनी प्रकट की हुई, "आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट" की दसवीं जिल्द में (पृ० ३६-४६) किया है। वहाँ पर उन्होंने बेतवा और बेस नदी के सङ्गम के पास एक प्राचीन विशाल स्तम्भ का पता लगाया जिसका सुन्दर चित्र ऊँचाई के नाप के साथ उक्त रिपोर्ट की प्लेट १४ वीं (प्रथम चित्र) में उन्होंने दिया है । वह स्तम्भ वहाँ पर "कचला बाबा" के नाम से प्रसिद्ध है और लोग उसको पवित्र समझते हैं । कई यात्री उसके लिये वहाँ आते हैं उसके आगे जानवरों का बलिदान करते हैं और उस पर सिन्दूर चढ़ाते हैं । जिस समय कनिंगहम साहब ने इस स्तम्भ की जाँच की उस समय सारे स्तम्भ पर सिन्दूर का गहरा रङ्ग जमा हुआ था और लोग उसको पवित्र मान कर पूजते थे इस कारण सिन्दूर को उखाड़ कर उसकी पूरी जाँच करना सम्भव न हुआ। उसकी ऐसी स्थिति पर से भी उन्होंने यह अनुमान किया कि यह गुप्तों के समय का होना चाहिये और सिन्दूर के नीचे उसके बनाने वाले का नाम समय आदि प्रकट करने वाला लेख होना चाहिये, परन्तु जब वहाँ के पुजारियों ने उनसे यह कहा कि उस पर कोई लेख नहीं है, तब वे निराश होकर वहाँ से लौटे। दैवयोग से वह सिन्दूर का रङ्ग अधिक मोटा होने के कारण कुछ वर्ष हुए स्वयं उखड़ गया और पत्थर निकल आया

फिर भी लोग उस पर सिन्दूर लगाते ही रहे। गत-
क जनवरी मास में मिस्टर मार्शल साहब यहाँ पर
, उस समय ग्वालियर राज्य के इञ्जिनियर मि० लेक
य ने उक्त स्तम्भ के हिस्से पर अक्षरों के निशान देखे
र थोड़ा सा सिन्दूर हटाते ही अक्षर स्पष्ट ही दिखलाई
ये। फिर मि० मार्शल साहब ने उस स्तम्भ को साफ़
वाया तो उस पर दो लेख निकल आये, जिनके लिये
सारे शिक्षित समाज के धन्यवाद के भागी हैं। ये लेख
सों के समय के नहीं किन्तु उससे बहुत पहले के अर्थात्
साढ़े ईसवी सन् से पूर्व की दूसरी शताब्दी की प्राचीन
लिपि में खुदे हुए हैं। जो मौर्यवंशी राजा अशोकके शिला-
लेखों की लिपि से बहुत ही मिलती है। इन दो लेखों में से
बड़े अर्थात् सात पंक्तिवाले के विषय में हमारा यह लेख
है। मि० मार्शल साहब ने उस लेख की छाप तैयार कर
एक तो डाक्टर ब्लाक के पास भेजी और दूसरी छाप
तथा उसीका एक फ़ोटो डा०फ्लीट साहब के पास इङ्गलैण्ड
भेजा। डा० ब्लाक साहब का तैयार किया हुआ उक्त लेख
का रोमन अक्षरान्तर तथा अंग्रेज़ी भाषान्तर मि० मार्शल
साहब ने "भारतीय प्राचीन शोध सम्बन्धी टिप्पणियाँ"
नामक अपने लेख में छपवाया (रायल एशियाटिक सो-
साइटी के स० १९०९ के जर्नल की अक्टोबर की संख्या में
पृ०१०५५-५६) और साथ ही उसका फ़ोटो भी प्रकट किया।
डा० फ्लीट साहब ने भी अपना तैयार किया हुआ
उसका रोमन अक्षरान्तर अंग्रेज़ी अनुवाद सहित उसी
संख्या में (पृ० १०८७-९२) छपवाया। फिर मि० देवदत्त
भाण्डारकर ने उक्त छपे हुए फ़ोटो पर से उसका रोमन

अक्षरान्तर तथा अंग्रेज़ी भाषान्तर बम्बई के एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में (अंक २३, फ० १०३) प्रकाशित किया। परन्तु इन तीनों अक्षरान्तरों में से एक में भी अन्तिम पंक्ति का पाठ सन्तोषदायक न था, जिसका कारण फ़ोटो तथा छाप में उक्त पंक्ति के कुछ अक्षरों का स्पष्ट न होनाही था। फिर इस वर्ष मि० लेक साहब ने उक्त स्तम्भ को बिलकुल साफ़ करवा कर उस लेख की एक उत्तम छाप प्रोफ़ेसर वेनिस साहब के पास भेजी जिसमें अन्तिम पंक्ति के अक्षर स्पष्ट पढ़े गये और मुख्य कठिनाई दूर होगई।

उक्त लेख का नागरी अक्षरान्तर तथा भाषान्तर नीचे लिखा जाता है।

पंक्ति अक्षरान्तर—

१ देव देवस वा (सु) देवस गरुड़ध्वजे अयं
२ कारितो इ (अ) हेलिओ दोरेण भाग—
३ वतेन दिअसपुत्रेण तखसिलाकेन
४ योनदूतेन आगतेन महाराजस
५ अंतलि कितस उपंता सकासं रजो
६ कासी पुतस (भा) गयप्रस त्रातारस
७ वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस

भाषान्तर—

"देवताओं के देवता वासुदेव का यह गरुड़ध्वज तक्षशिला के रहने वाले दिअ के पुत्र; भागवत हेलिओदेर (नामक) यवनदूत ने यहाँ पर बनवाया, जो महाराज अंतलिकिल के यहाँ से त्रातार राजा काशीपुत्र भागभद्र के पास (उसके) प्रवर्द्धमान् राज्यवर्ष १४ में आया था"।

टिप्पणी।

भाषा—इस लेख की भाषा प्राकृत है परन्तु संस्कृत से बहुत ही मिलती हुई है। हिन्दुस्तान के यूनानी (ग्रीक) राजाओं के सिक्कों पर के खरोष्ठी (गांधार) लिपि के लेखों की भाषा भी इसी प्रकार की है।

गरुड़ध्वज—यह स्तम्भ गरुड़ध्वज ही था। विष्णु के मन्दिर के सामने कभी कभी बड़ा स्तम्भ बना कर उसके सिरे पर गरुड़ की मूर्ति बिठलाते हैं। ऐसे स्तम्भों को गरुड़ध्वज कहते हैं। गुप्त राजाओं के सिक्कों में ऐसे स्तम्भों के चिह्न पाये जाते हैं।

तक्षशिला—पंजाब का एक प्राचीन नगर, जिसका खंडहर सिन्धु और झेलम नदियों के बीच शाहढेरी के पास होना जनरल कनिंगहम प्रकट करते हैं। सिकंदर बादशाह इस नगर में रहा था, यहाँ के राजा ने हिन्दू राजाओं में सब से पहले बिना लड़े सिकंदर की अधीनता स्वीकार की थी। पीछे से इसी नगर में पंजाब के यूनानी राजाओं की राजधानी रही थी और ग्रीक राजा ऐंटिआल्किडस की राजधानी भी—जान पड़ता है—यहीं थी।

दीअ—यह यूनानी नाम डीआन का रूपक है। जब एक भाषा के नाम दूसरी भाषा में लिखे जाते हैं तब उनमें कुछ परिवर्तन हो ही जाता है। अशोक के लेखों में ऐंटिओकस के स्थान पर अंतियक अंतियोक या अंतियोग लिखा मिलता है। ऐसे ही टॉलेमीको तुरमाय, ऐंटिगॉनस को अंतिकिनि या अंतेकिन, मेगास को मक या मग और अलकज़ेंडर को अलिकसन्दर लिखा है। गुप्त समाटि समय के संस्कृत लेखकों ने भी आमीर के स्थान

पर हमीर और सुल्तान के स्थान पर सुरत्राण लिखा है और अब भी ऐसा होता है।

भागवत—वैष्णवों की अनेक सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन भागवत सम्प्रदाय है, जिसके अनुयायी भगवद्भक्ति के कारण भागवत कहलाते हैं। ये वेदविहित यज्ञादि कर्मों को गौण और भगवद्भक्ति ही को मुख्य मानते हैं अर्थात् वे भक्ति मार्ग ही के उपासक होते हैं।

हेलिओदोर—यह यूनानी (ग्रीक) नाम "हेलिओडॉरस" के वास्ते लिखा गया है।

अंतलिकित—यह यूनानी नाम "पेटिओसलिकडस" का प्राकृत रूप है। पेटिओलिकडस पञ्जाब का राजा था और वह ईसवी सन् से पूर्व की दूसरी शताब्दी में हुआ। उसकी राजधानी तक्षशिला थी। हेलिओडोरस इसीका दूत था जो इसका भेजा हुआ विदिशा के राजा भागभद्र के पास गया था। इस राजा के कई चाँदी के सिक्के मिले हैं जिनके एक ओर प्राचीन ग्रीक लिपि में ग्रीक भाषा का लेख है और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में "महरजस जयधरस अंतिअलिकदस" लेख है।

यूनान के बादशाह अलकज़ेंडर (सिकन्दर) ने ईसवी सन् से ३२६ वर्ष पहले हिन्दुस्थान पर चढ़ाई कर पञ्जाब तथा सिन्ध का बहुत कुछ भाग अपने अधीन किया था। उस पर से तो यूनानियों का अधिकार ६ वर्ष के भीतर ही उठ गया, परन्तु हिन्दूकुश से उत्तर में बाक्ट्रिया का यूनानी राज्य (जिसे सिकन्दर ही ने क़ायम किया था) दृढ़ होगया था। वहाँ के राजा यूथिडिमस् के पुत्र डिमिट्रियस ने ईसा के लगभग १६० वर्ष पहले

हिन्दुस्थान पर चढ़ाई कर अफ़गानिस्तान पञ्जाब आदि पर
कर यूनानियों का राज्य जमा दिया जो कई सौ वर्ष तक
ना रहा। इस समय के २४ से अधिक राजाओं के सिक्के
ले हैं जिन पर के लेखों से उनके नाम तथा उपाधि
ादि का पता लगता है। इन राजाओं में से एक का भी
ाम पहले किसी शिलालेख में नहीं मिला था। बेस
गर का लेख ही पहला लेख है, जिसमें पञ्जाब के यूनानी
जा का नाम मिलता है।

त्रातार—(संस्कृत त्रातृ से बना है) इसका अर्थ रक्षक
ोता है, परन्तु यहाँ पर यह उक्त अर्थ का सूचक नहीं है
किन्तु उपाधि है। यह उपाधि किसी हिन्दू राजा के नाम
साथ लगी हुई पहले नहीं मिली, परन्तु यूनानी राजा
ायाभीडस, ऐपालो डॉटस, स्टैरो, मिनेंडर, गोइलस,
ायोनिसिअस, हियोस्टेटस, हर्मिअस आदि के सिक्कों
र के प्राकृत लेखों में मिलती है और यूनानी उपाधि
सोटर" का प्राकृत अनुवाद है। उपर्युक्त लेख एक
ूनानी राजदूत का खुदवाया हुआ होने से उसमें
जा की उपाधि यूनानी राजाओं की सी हो तो कोई
ाश्चर्य की बात नहीं, परन्तु वह उपाधि बहुत बड़े
जाओं की थी जिससे अनुमान होता है कि भागभद्र
ी—जिसके नाम के साथ यह लगी हुई है,—प्रबल राजा
ा, काशीपुत्र—राजा भागभद्र के नाम के साथ उसकी
ाता काशी के नाम का उल्लेख किया गया है। प्राचीन
खों में कई राजाओं के नामों के साथ उनकी माताओं के
ाम लिखे मिलते हैं, जिसका कारण कदाचित् यह हो
कि उस समय के राजाओं के अनेक रानियाँ होती थीं

...नी से अमुक राजा उत्पन्न हुआ था यह
...ने के लिये अथवा रानी के किसी विशेष गुण या
...पता के कारण उसके पुत्र के नाम के साथ उसके
...का भी उल्लेख किया जाता रहा हो। आन्ध्रभृत्य
...त वाहन) वंश के राजा शातकर्णी को गौतमीपुत्र,
...ाई को वासिष्ठिपुत्र, शकसेन को मादरीपुत्र लिखा
...से ही अनेक उदाहरण सिक्कों तथा लेखों में मिलते हैं
...वंशियों के अतिरिक्त दूसरों के नाम में भी कभी कभी
...तरह लिखे हुए मिलते हैं। संस्कृत शिक्षा में प्रसिद्ध
...करण पाणिनि को दाक्षिपुत्र बतलाया है और प्रसिद्ध
...भवभूति अपने को जतुकर्णीपुत्र लिखता है।

...रागभद्र—यह राजा किस वंश का था इस विषय में
...भी लिखा नहीं है। इसकी राजधानी विदिशा नगरी
...सम्भव है। महाकवि कालिदास के रचे हुए "माल-
...ग्निमित्र नाटक" से पाया जाता है कि सुंगवंश के
...पक राजा पुष्यमित्र के समय उसका पुत्र अग्निमित्र
...ा नगरी में राज करता था। भागभद्र का समय
...त्र के समय से बहुत दूर नहीं हो सकता। अतएव
...म्भव है कि यह भी उसी वंश से सम्बन्ध रखता हो।
...टर ग्रीयर्सन साहब ने रायल एशियाटिक सोसाइटी
...१९०७ई० के जर्नल में एक लेख लिख कर यह बतलाने
...त किया था कि ईसाई लोगों की एक बस्ती प्राचीन
...। मद्रास हाते में स्थापित हुई थी, जहाँ के ईसाइयों
...हिन्दुओं में भक्तिमार्ग का प्रचार हुआ हो और
...से सारे हिन्दुस्तान में फैल गया हो, परन्तु उपर्युक्त
...रके लेख से, जो ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव से करीब

दो शताब्दी पूर्व का है, परन्तु पाया जाता है कि उस समय भी हिन्दुस्तान में भक्तिमार्ग को मानने वाली भागवत सम्प्रदाय विद्यमान थी और यूनानी लोग भी उसके अनुयायी बनते थे।

[क्रमशः है

उत्तरी ध्रुव की यात्रा।

("सरस्वती" सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित)

पृथ्वी गोल है। पृथ्वी के गोले की एक तरफ़ योरप, एशिया और आफ्रिका की पुरानी दुनिया है और दूसरी तरफ़ अमेरिका की नई दुनिया है। दोनों गोलार्द्धों का ठीक ऊपरी सिरा उत्तरी ध्रुव कहलाता है। अर्थात् उसकी स्थिति ठीक ९० अंश पर है। यहां हमेशा बर्फ़ जमा रहता है। बर्फ़ के भयङ्कर तूफ़ान आया करते हैं, समुद्र जमकर बर्फ़ की चट्टान की शकल का होजाता है। अतएव मनुष्य के लिये ध्रुवप्रदेश प्रायः अगम्य है। परन्तु महा अध्यवसायशील योरप और अमेरिका वाले अगम्य को गम्य, अज्ञेय को ज्ञेय और अदृश्य को दृश्य करने के लिये भी यत्न करते हैं। १८२७ ईसवी से लेकर आज तक कितने ही उद्योगी आदमियों ने उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने, वहां की सैर करने, वहां की स्थिति प्रत्यक्ष देखने का यत्न किया है। उन्हें इस काम में बहुत कुछ कामयाबी भी हुई है।

उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की स्थिति प्रायः एकसी अनुमान की जाती है। अब तक लोगों का ध्यान विशेष करके उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने ही की तरफ़ था; पर कुछ समय से दक्षिणी ध्रुव पर भी चढ़ाइयाँ शुरू हुई हैं। परन्तु यहां उत्तरी ध्रुव पर की गई एक चढ़ाई का कुछ हाल लिखा जाता है।

१८७६ ईसवी में डाक्टर नानसेन ने उत्तरी ध्रुव पर चढ़ाई करके बहुत नाम पाया। वे ८६ अक्षांश तक पहुँच गये थे। उत्तरी ध्रुव पर चढ़ाइयाँ तो कई हुई हैं, पर उनमें से ६ मुख्य हैं। इन चढ़ाइयों के नायकों के नाम, चढ़ाई का साल और उसकी अन्तिम सीमा के अक्षांश हम नीचे देते हैं :-

नाम	सन्	अक्षांश
डब्लू. ई. पारी	१८२७	८२. ४५
सी. एफ़. हाल	१८७०	८२. ११
जूलियस पेयर	१८७४	८२. ५
सी. एस. नेयर्स	१८७६	८३. २०
ए. डब्लू. ग्रीली	१८८२	८३. २४
वाल्टर वेलमैन	१८८६	८२. ००
एफ़. नानसेन	१८९६	८६. १४
ड्यूक आफ़ अबरूज़ी	१९००	८६. ३४
रावर्ट ई. पीरी	१९०२	८४. १७

इससे मालूम होगा कि नानसेन ८६ अंश १४ मिनिट तक ही जा सके थे; पर ड्यूक आफ़ अबरूज़ी उनके बाद, उनसे भी दूर, अर्थात् ८६ अंश ३४ मिनिट तक पहुँचे थे। अब एक अमेरिकन साहब ने इन ड्यूक महाशय को भी

मात दिया है। आप का नाम है कमांडर पीरी। उत्तरी ध्रुव पर चढ़ाई करने के लिए आप १६ जुलाई १९०५ को उत्तरी अमेरिका के न्यूयार्क शहर से रवाना हुए थे। कोई डेढ़ वर्ष बाद आपकी चढ़ाई का फल प्रकाशित हुआ। उससे मालूम हुआ है कि आप ८७ अंश ६ मिनिट तक गये। वहां से आगे नहीं जासके। अर्थात् उत्तरी ध्रुव से कुछ कम ३ अंश इधर ही रह गये। यही बहुत समझा गया है। लोग धीरे धीरे आगे ही बढ़ रहे हैं। बहुत सम्भव है, किसी दिन कोई ९० अंश तक पहुँच कर ध्रुव के दर्शनों से कृतकृत्य हो आवे।

कमांडर पीरी ने उत्तरी ध्रुव के पास बर्फ़ से भरे हुए समुद्र में चलने लायक़ एक खास तरह का जहाज़—धुवांकश—बनवाया। १६ जुलाई १९०५ को यह जहाज़ न्यूयार्क से चला। उस पर सब मिलकर २० आदमी थे। वे सब कप्तान वार्टलेट की निगरानी में थे। पीरी साहब जहाज़ के साथ नहीं रवाना हुए। उत्तरी अमेरिका के ठेठ पूर्व, समुद्र से सटे हुए, नोवा स्कोटिया के ब्रेटन नामक अन्तरीप में सिडनी एक बन्दरगाह है। वहीं जाकर कमांडर पीरी जहाज़ पर सवार हुए। वहां जहाज़ ने खूब कोयला लिया। खाने पीने का भी सामान यथेष्ट लादा। २६ जुलाई को जहाज़ ने सिडनी से लंगर उठाया। जहाज़ का नाम है "रूज़वेल्ट"। अमेरिका की संयुक्त रियासतों के महाराज, सभापति रूज़वेल्ट के नामानुसार इस का नाम रक्खा गया है। २९ जुलाई को यह जहाज़ "डोमिनोरन" नामक बन्दरगाह में पहुँचा। यह जगह लबराडोर नाम के सूबे में है। यह सूबा उत्तरी अमेरिका के पूर्व है और

अंगरेज़ों के न्यूफ़ौंडलैंड टापू के अधीन है। यहां से
ग्रीनलैंड की तरफ़, उत्तर को रवाना हुआ। ७ अगस्त
यह ग्रीनलैंड के यार्क नामक अन्तरीप में पहुंचा और
को एटा नामक बन्दरगाह में। इस जहाज़ के साथ इस
एक मददगार भी था। उसका नाम है "यरिक" य
जहाज़ ग्रीनलैंड के कितने ही स्थानों में यहां के निवा
सियों तथा कुत्तों के लेने के लिए घूमता फिरा। जब यह
काम हो चुका तब १३ अगस्त को उसने लाये हुए कुत्तों
और आदमियों को "रूज़वेल्ट" के हवाले किया। एटे
में रूज़वेल्ट कई दिन तक ठहरा। अपने प्रत्येक पुर्ज़े
की परीक्षा करके उन्हें खूब साफ़ किया। जहां तक
कोयला लाद सका "यरिक" से लिया। क्योंकि अब आगे
और कोयला मिलने की आशा न थी। २०० कुत्ते और
यस्किमों नामक जाति के २३ आदमी भी "यरिक"
उसने लिए। यस्किमों जाति के लोग बर्फ़स्तानी देश
और टापुओं में रहते हैं। बर्फ़ में रहने का उन्हें जन्म से ही
अभ्यास रहता है। वे उत्तरी ध्रुव के आसपास के प्रदेश से
खूब परिचित होते हैं। इसी लिये कमांडर पीरी ने उनको
अपने साथ लेजाने की ज़रूरत समझी।

बर्फ़ में डूबे हुए उत्तरी ध्रुव के पास वाले प्रदेश में, गतवर्ष,
पीरी साहब ने जो अनुभव प्राप्त किया, और जो कुछ उन
पर बीती, उसका संक्षिप्त वृत्तान्त उन्होंने २ नवम्बर
१९०६ को लिख कर रवाना किया है। लबराडोर के
पेंडेल नामक स्थान से उन्होंने यह वृत्तान्त न्यूयार्क
जा है। उसका मतलब हम थोड़े में नीचे देते हैं:—

उत्तरी समुद्र के किनारे, ग्रांटरोड नामक भू-प्रदेश के

पास "रूज़वेल्ट" ठहरा। वहीं उसने जाड़ा बिताया। फ़ेब्रुअरी में हम लोग, बर्फ़ पर चलने वाली स्लेज़ नामक छोटी छोटी गाड़ियां लेकर उत्तर की ओर रवाना हुए। हेकला और कोलम्बिया के रास्ते हम आगे बढ़े। ८४ और ८५ अक्षांशों के बीच हमें खुला हुआ समुद्र मिला। उस पर बर्फ़ जमा हुआ न था। तूफ़ान ने जमे हुए बर्फ़ को तोड़ फोड़ डाला, हमारे खाने पीने की चीज़ों को बरबाद कर दिया; हमारी टोली के जो लोग पीछे थे उनका लगाव काट दिया। इस कारण आगे बढ़ने में बहुत देरी हुई। किसी तरह हम लोग ८७ अक्षांश ६ मिनिट तक पहुँचे। आगे बढ़ना असम्भव हो गया। लाचार लौटे। लौटती बार आठ कुत्ते मार कर खाने पड़े। कुछ दिनों में फिर खुला हुआ समुद्र मिला। उसमें पानी भरा था। राम राम करके ग्रीनलैंड के उत्तरी किनारे पर पहुँचे। राह में अनेक आफ़तों का सामना करना पड़ा। बड़ी बड़ी मुसीबतें झेलने पर ग्रीनलैंड के सामुद्रिक किनारे के दर्शन हुए। यहां के कई बर्फ़स्तानी बैल मार कर खाये। किसी तरह किनारे किनारे चल कर जहाज़ के पास पहुँचे। हमारी टोली के जिन लोगों का साथ छूट गया था उनमें से कुछ को तूफ़ान ग्रीनलैंड के उत्तरी किनारे पर ले गया। कुछ आदमी एक तरफ़ गये, कुछ दूसरी ओर। एक टोली को मैंने भूखों मरते पाया और उसके प्राण बचाये। एक हफ़्ता "रूज़वेल्ट" पर रह कर हम लोग कुछ तरोताज़ा हुए। फिर "स्लेज़" गाड़ियों पर सवार हुए और पश्चिम की ओर चले। ग्रांटलैंड नामक भूभाग के सारे उत्तरी किनारे को देख डाला। इतनी दूर चले गये कि उस

किनारे की दूसरी तरफ़ जा पहुँचे। घर लौ
और तूफ़ान का लगातार सामना करना पड़
वेल्ट" तूफ़ानों से बड़ी बहादुरी से लड़ता
से लड़ने में "रूज़वेल्ट" बड़ा बहादुर है। इस
न कोई आदमी मरा और न कोई बीमार ही हु
यह पीरी साहब की संक्षिप्त चिट्ठी है। आपक
थी कि आप उत्तरी ध्रुव तक ज़रूर पहुँच जाये
नहीं पहुँच सके। बर्फ़ के तूफ़ानों ने उन्हें ८७ अ
आगे बढ़ने नहीं दिया। तिस पर भी वे इतनी दू
गये, जितनी दूर आज तक कोई नहीं गया था।
साहब अमेरिका के रहने वाले हैं। अतएव उत्तरी
की सैर करने वालों में, दूरी के हिसाब से, इस स
अमेरिका का नम्बर सब से ऊँचा है। पीरी साहब
इरादा था कि सवाइन अन्तरीप से ३५० मील उत्तर
अपना खोमा रक्खेंगे। वहां से उत्तरी ध्रुव ५०० मील है
राह में बर्फ़ के मैदान का विकट बियाबान है। इसे कोई
डेढ़ महीने में पार कर जाने की उन्हें उम्मेद थी। परन्तु
तूफ़ानों की प्रचण्डता ने उनकी आशा नहीं पूरी होने दी।
१८७६ ईसवी में नेयर नाम के जो साहब उत्तरी ध्रुव
देखने के इरादे से ८३ अक्षांश तक गये थे, उन्होंने लौट कर
बतलाया था, कि ग्रांडलैंड नामक भूभाग के उत्तर,
३० मील की लम्बाई चौड़ाई में, समुद्र बिल्कुल बर्फ़ से
जमा हुआ है। आपने राय दी थी कि यह बर्फ़ ५० फ़ीट तक
गहरा था। तब से लोगों ने यह अनुमान किया था कि इस
तरफ़ का समुद्र बहुत करके ध्रुव के पास तक गया होगा
और वह बहुत गहरा न होगा। उस पर

तह ठेठ नीचे तक गई होगी। लोगों ने समझा था कि यह बर्फ़ हज़ारों वर्ष का पुराना होगा और पत्थर की तरह अपनी जगह पर जम गया होगा। अतएव इन चट्टानों पर "स्लेज़" गाड़ियां आसानी से चल सकेंगी। परन्तु कमांडर पीरी ने इस अनुमान को ग़लत साबित कर दिया। पीरी ने यथासम्भव "स्लेज़" गाड़ियों से भी काम लिया और जहाज़ से भी। यदि बर्फ़ समुद्र के तल तक पत्थर की तरह जमा होता तो वह तूफ़ानों से न टूटता और पीरी की इच्छा के विरुद्ध उनके जहाज़ को ग्रीनलैंड की तरफ़, दक्षिण-पूर्व की ओर न बहा ले जाता। पीरी ने समुद्र में बर्फ़ जमा ज़रूर पाया; पर वह पुराना न था, इसीसे तूफ़ान के वेग से वह टूट गया; पानी के ऊपर बहने लगा; और अपने साथ रूज़वेल्ट को भी ग्रीनलैंड की तरफ़ बहा ले गया। अतएव "स्लेज़" गाड़ियों पर सवार होकर ध्रुव तक पहुँचने की आशा व्यर्थ है।

अनेक विघ्न बाधाओं को टाल कर, और "स्लेज़" गाड़ियों पर दूर तक जाने में असमर्थ हो कर भी पीरी साहब ८७ अक्षांश से भी कुछ दूर आगे बढ़ सके, यही ग़नीमत समझनी चाहिये।

[सरस्वती से

हिन्दी गद्य के जन्मदाता पण्डित लल्लूलाल कवि।

[गो. किशोरीलालजी द्वारा लिखित ।]

ये गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे और
के महले बलका की बस्ती (गोकुलपु
में रहते थे। इनके पिता का नाम चैनसुख
था, ये बड़े दरिद्र थे और पुरोहिताई का काम कि
करते थे।

सं० १८२०-२२ वैक्रमीय के लगभग इनका जन्म हुआ
और ये संस्कृत फ़ारसी और ब्रजभाषा पढ़ने लगे। जब
सं० १८४० में इनके पिता का देहान्त हो गया और इन्हें
पौरोहित्यकर्म में रुचि न हुई और दरिद्रता अधिक
सताने लगी, तब ये जीविका के लिये घूमते फिरते संवत्
१८४३ में बङ्गदेश (मुर्शिदाबाद) में गये। यहां पर कृपा-
सखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदास से इनसे परिचय
हुआ और फिर तो इनके सत्सङ्ग से गोस्वामीजी ऐसे
मोहित हुए कि उन्होंने मुर्शिदाबाद के नवाब मुबारक-
दौला से इनकी भेंट कराई और

रीझकर इनपर बहुत प्रसन्न हुए। फिर तो गोस्वामी गोपालदास और नव्वाब मुबारकुद्दौला के आग्रह से सात वर्ष तक ये मुर्शिदाबाद ही में रह गये और इनकी जीविका का भी भली भाँति निर्वाह होता रहा। परन्तु संवत् १८५० में गोस्वामी गोपालदास के मरने से ये ऐसे उदास हुए कि नव्वाब से हठपूर्वक विदा हो कर कलकत्ते गये और यावनलक्ष्मी श्रीमती रानी भवानी के पुत्र राजा रामकृष्ण से परिचय होने पर उन्हींके आश्रय में कलकत्ते में रहने लगे।

संवत् १८५३ में ये जीविका का अनुसन्धान करते हुए श्रीजगदीशपुरी तक गए और जगदीश्वर की स्तुति के समय जो इन्होंने स्वयं बना कर निर्वेदाष्टक पढ़ा था, उसका पहला दोहा यह है—

"विश्वम्भर बनि फिरत हौ, भले बने महराज,
इमरी ओर निहारि कै, लखौ आपुनो काज"।

निदान उनके दैन्य प्रलाप को जगदीश्वर ने सुना और नागपुर के राजा मनियां बाबू, जो उस समय जगन्नाथ दर्शन को आए थे और जगदीश के मन्दिर में खड़े खड़े इनके अनर्गल अश्रुप्रवाह के साथ करुणोत्पादक निर्वेदाष्टक को सुन रहे थे, इन पर बहुत दयार्द्र हुए और इन्हें अपने साथ नागपुर चलने के लिये आग्रह करने लगे। परन्तु लल्लूलालजी के ग्रह ऐसे प्रतिकूल थे कि ये राजा साहब के साथ नागपुर चलने में सम्मत न हुए और फिर कलकत्ते ही लौटने का विचार करने लगे। जब राजा साहब ने इनकी रुचि कलकत्ते ही जाने की देखी तब सौ रुपये से इनका सत्कार किया और कलकत्ते के पादरी बुनर साहब के नाम एक अनुरोधपत्र लिख दिया।

निदान जगदीशपुरी से लौट कर जब ये कलकत्ते आ तो दीवान काशीनाथ के यहां ठहरे और पादरी युन साहब से भेंट की। उस समय न तो अंग्रेज़ी का इतन प्रचार था और न लल्लूलालजी अच्छे विद्वान् ही थे, थोड़ी सी टूटी फूटी अंग्रेज़ी, थोड़ा बहुत संस्कृत और अच्छी तरह से ब्रजभाषा तथा गुजराती जानते थे। अतएव पादरी साहब ने पहली ही भेंट में इनके पाण्डित्य को जान लिया, तिस पर भी इन्हें आशा दी कि-" अपने भर सक हम तुम्हारी सहायता करेंगे "।

फिर दीवान काशीनाथ और पादरी युनर साहब ने लल्लूलालजी का परिचय डाक्टर रसल साहब से कराया और रसल साहब ने बड़े आदर के साथ इन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्चाधिकारी श्रीमान् डाक्टर गिलक्रिस्ट साहब से मिलाया और गिलक्रिस्ट साहब की भेंट ही लल्लूलालजी के विख्यात होने और दिन फेरने में प्रधान कारण हुई।

निदान डाक्टर गिलक्रिस्ट साहब ने हिन्दी-गद्य ग्रन्थ बनाने के लिये लल्लूलालजी को उत्साहित किय और अर्थ साहाय्य के अतिरिक्त मज़हरअली खां बिला और मिरज़ा कालमअली जयां नामके दो सहायक लेखक दिए तब लल्लूलालजी ने पूर्ण परिश्रम करके एक वर्ष में (सं० १८५७, सन् १८०४ ई०) निम्नलिखित चार ग्रन्थ लिखे-

१ सिंहासनबत्तीसी।

२ बैतालपचीसी।

३ शकुन्तला-संस्कृत का अनुवाद।

४ माधोनल-संस्कृत माधवानल का अनुवाद।

यह सब तो हुआ, पर लल्लूलालजी की वास्तविक उन्नति का जो मूल कारण हुआ, वह हम नीचे लिखते हैं।

आगरे के तैरने वाले प्रसिद्ध हैं, अतएव लल्लूलालजी भी अच्छे तैराक थे। एक दिन तीसरे पहर ये कलकत्ते में गङ्गातट पर टहल रहे थे कि इन्होंने एक अंग्रेज़ को जल में डूबते देखा। बस, चट ये कपड़े उतार और अपने प्राण को तुच्छ समझ जल में कूद पड़े और दो ही गोते में अंग्रेज़ को बाहर तीर पर ले आए। वह अंग्रेज़ ईष्ट इण्डिया कम्पनी का एक उच्च कर्मचारी था, अतएव उसने अपने प्राणरक्षक लल्लूलालजी की कृतज्ञता न भुलाई; इन्हें एक सहस्र रुपये नक़द देकर एक छापाखाना करा दिया और कम्पनी से अनुरोध करके कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज में ५०) रु० महीने की नौकरी भी दिलवाई। बस, यही समय लल्लूलालजी की उन्नति का प्रथम सोपान हुआ।

संवत् १८५७ सन् १८०४ ई० में ये फ़ोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक हुए। फिर तो दिन दिन इनका सम्मान बढ़ने लगा। छापाखाना घर का था, बस इनके ग्रन्थ अधिकता के साथ बिकने और छपने लगे। आत्मोन्नति के साथ साथ इनका उत्साह और भी बढ़ा और ग्रन्थ रचना की ओर इनकी प्रवृत्ति बढ़ती गई।

लल्लूलालजी ने संस्कृत प्रेस नामक जो अपना छापाखाना खोला था, उसमें ईष्ट इण्डिया कम्पनी ने बहुत कुछ अर्थसाहाय्य दिया था। उसी छापेखाने में [illegible] छपने और बिकने लगे। देखिए उस

मनुष्य का कर्तव्य।

[स्वर्गीय पं० देवीसहायजी लिखित]

यदि धर्मप्रवृत्ति मनुष्य में बलवान् रहे तो यद्यपि उसका मनुष्यत्व कदापि नष्ट नहीं होता यह निश्चित बात है सही, तथापि सदा शीर्ण और जीर्ण मनुष्यभाव में पड़ा रहना भी मनुष्य का एकान्त कर्तव्य नहीं है, किन्तु सर्वाङ्गीण अर्थात् सर्वतोभाव से अपनी उन्नति करना मनुष्य का अवश्य कर्तव्य है। वह उन्नति दो प्रकार की है। एक शारीरिक दूसरी मानसिक। शरीरसाध्य यावत् कार्यों में जो मनुष्य की पारगामिता होती यह शारीरिक सर्वाङ्गीण उन्नति है। हस्त, पाद, चक्षुः, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से जो जो कार्य साधित होते हैं तथा बलसाध्य जो भार-वहन आदि काम हैं ये सभी शरीर के तत्तत् अङ्गों से साधित होते हैं, सुतरां सभी शरीरसाध्य कार्य हुए। इन सभी में जो परम्परागत हुआ हो उसही ने शारीरिक यथार्थ उन्नति लाभ की है, अन्य ने नहीं। यद्यपि तुम रत्नों

के परीक्षक (जौहरी) हो, अपनी दृष्टि से हीरा आदि अति मूल्यवान् वस्तुओं के भी दोष और गुणों का अनुसन्धान कर सकते हो, अवश्य हम मान भी सकते हैं कि रत्नपरीक्षा में तुम्हारे नेत्र उच्चतर कोटि को पहुँच गये, सुतरां आपने भी उस विषय में यथार्थ उन्नति लाभ की। किन्तु इन्हीं नेत्रों से जब तुम कपड़े की परीक्षा करने लगोगे तब उस व्यापारी से सदा ही निकृष्ट रहोगे जो निरन्तर कपड़े ही की महीन और मोटेपन की निगाह रखता है, अतएव आपके नेत्रों ने सभी विषय में यथार्थ उन्नति लाभ की यह आप नहीं कह सकते। सुतरां उक्त विषय में तुम्हारी न्यूनता ही रही। यदि कदाचित् नेत्रसाध्य सभी कार्यों में तुम पारदर्शी हो तब तुम्हारे नेत्र सर्वतोभाव से उन्नत हैं यह हम कह सकते हैं; तथापि शरीर के और और अङ्गों द्वारा जो जो कार्य निष्पन्न होते हैं और वह तुम नहीं कर सकते तो उस विषय में तुम्हारी न्यूनता फिर भी दुर्वार्य्य है। जैसे हस्तसाध्य लिखने के काम में तुम चाहे ऐसे प्रवीण हो जो पाँच मिनिट में पचास चिट्ठियाँ लिख दो, आप जैसा लेखनपटु चाहे जगत् में कोई भी न हो; किन्तु हाथ में फावड़ी लेके एक किसान (कृषक) घण्टे भर में एक बीघा ज़मीन जैसी खोद डालेगा वैसी तुम कदापि नहीं कर सकते, सुतरां हस्तसाध्य खेती के व्यापार में तुम उसकी अपेक्षा निकृष्ट हो और तुम्हारे हाथ भी सर्वथा उन्नत नहीं। तुम क्या, यदि इन्द्र आदि देवता भी हस्तसाध्य व्यापार कृषि आदि नहीं कर सकते तो वह भी उस विषय में किसान की अपेक्षा निकृष्ट हैं इसमें कुछ सन्देह नहीं, अतएव

इसके समस्त अङ्ग निज निज कार्य में पारङ्गत होचुके
स ही ने सर्वाङ्गीण शारीरिक उन्नति का यथार्थ
कया है ।

पाठक ! जिस प्रकार हस्त पाद और चक्षुः श्रोत्र
द्वारा सिद्धकार्य सब शारीरिक कहलाते हैं और जो
शारीरिक कार्यों में परंपारङ्गत हैं वह शारीरिक
की पराकाष्ठा को पहुँचा कहलायेगा, उसी प्रकार
भी समस्त अङ्ग प्रत्यङ्गों द्वारा जो कार्य साध्य होते
कार्यों में जो पारङ्गत होगया हो, वही सर्वाङ्गीण म
उन्नति को पहुँचा कहलावेगा और नहीं । वे सब
अङ्ग प्रत्यङ्ग वा मानसिक वृत्तियां तीन प्रकार
यथा कामिकवृत्ति, धनवृत्ति और बुद्धिवृत्ति
द्वारा जगत् के प्रत्येक पदार्थों की सुन्दरता
ग्रहण की जाती है अथवा जिनसे चित्त में विनो
में रसिकता आदि भाव सम्यक् प्राप्त होते हैं
वृत्तियां हैं; इनका विस्तार वर्णन करना प्रायः
का विषय है । दया, मैत्री, भक्ति और प्रीति
वृत्तियां हैं; इनका संक्षेप और विस्तार से वर्णन
में किया गया है । जिनसे लौकिक वा आध्य
का उपार्जन वा विचार लब्ध होता है वे
कहके पुकारी जाती हैं । इनके उदाहरण वा
नीति वा कलाकौशल कृषि और यन्त्र आ
शास्त्र एवं साङ्ख्य आदि अध्यात्मविद्या के
जाते हैं । यद्यपि उक्त त्रिविध वृत्तियों में से
भी एक वृत्ति उन्नत होती है, तब मनुष्य प्रा

गुण अर्थात् कलाओं में कुशल, विचार में दक्ष, चित्त में धर्मशील, रसिकों में रसिक, युद्ध में क्षिप्रकारी और योग में योगेश्वर नहीं होसकता, तब तक वह सर्वतोभाव से उन्नत हुआ नहीं कहा जासकता। अस्तु।

पाठक! मनुष्य का कर्तव्य यह है कि वह अपनी "यत्परोनास्ति" उन्नति के लिये सदा अभिलाषावान् बने और तदनुगुण चेष्टा भी करता रहे। यदि वह एक या दो कार्य में निपुण हो भी जाय तो भी अन्यान्य गुणों के लिये उसको निरन्तर चेष्टावान् रहना योग्य है। यावत् पर्यन्त दैहिक और मानसिक सर्वाङ्गीण उन्नति नहीं होती तावत्पर्यन्त उधर से विरत होना मनुष्य का कर्तव्य नहीं है। चेष्टा करते करते शेष में अपने आप ही सर्वाङ्गीण उन्नति होजायगी इसमें कुछ सन्देह नहीं। यद्यपि मनुष्य अपनी छोटी सी अवस्था में सर्वाङ्गीण उन्नति कर लेगा और समस्त गुणों का आधार हो जायगा यह सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य का ज्ञान परिमित और विषय अनन्त हैं, तथापि इस विषय में दो उत्तर हैं। एक उनके प्रति जो जन्मान्तर मानते हैं और दूसरा उनके लिये है जो जन्मान्तर का होना स्वीकार नहीं करते। पाठक! जन्मान्तर मानने वालों का तो यही निश्चय सिद्धान्त है कि संस्कार कई जन्मों तक वर्त्तमान रहते हैं और उनके अनुसार ही मनुष्यों को गुण या उन्नति उपलब्ध होती है। अतएव मनुष्य यदि प्रति जन्म में अपनी उन्नति की ओर दृष्टि रक्खे और जहाँ तक बने अपने में सद्गुणों का आधान करता रहे, तो भी वह क्रमशः आत्यन्तिक उन्नति या सर्वाङ्गीण उन्नति को नहीं पहुँचेगा। इसमें क्या प्रमाण है?

भगवान् गीता में कहा है "तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्व-
देहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन" अर्थात्
संस्कारवश जन्मान्तर में पिछले जन्म का ज्ञान अनायास
ही मिल जाता है और फिर अपने कार्यसाधन के
लिये वे मनुष्य फिर प्रयत्न करते हैं । इति । जो जन्मान्तर
मानते हैं उनके लिये तो उक्त उत्तर हुआ किन्तु जो
जन्मान्तरवादी नहीं हैं वे भी तो मनुष्य जाति की पूर्ण
उन्नति चाहते हैं और जगत् की क्रमशः उन्नति होती है
यह भी अवश्य मानते हैं, तब उनसे पूछना चाहिये कि
जैसे तुम लोग पहले पशुप्राय या वानर थे, किन्तु क्रमशः
अब सभ्यतम होगये हो, ऐसे क्रमोन्नतजगत् में कभी चलते
चलते ऐसा भी एक समय आयेगा जब मनुष्य जाति
सर्वाङ्गीण उन्नति पर पहुँच जायगी । यदि कहो कि मनुष्य
का ज्ञान परिमित है और उसमें समस्त विषयों का
आवेश होना दुःसाध्य है, अतएव सर्वगुणसम्पन्नता होनी
असम्भव है, तो ठीक है, किन्तु सोचिये कि जब तुम किसी
जङ्गली मनुष्य की मण्डली में वर्तमान रहते और कभी
नागरिक मनुष्य या नगर का दर्शन भी नहीं करते, तब
यदि आपके आगे आके कोई कहता कि एक मनुष्य दो
देशों की बोलियाँ बोल सकता है और बीस तरह की कारी-
गरी का काम कर सकता है, तब क्या तुमको कभी
विश्वास होता कि इसका कहना सत्य है ? नहीं, कदापि
नहीं ! क्योंकि तुम तो एक भी भाषा अच्छी तरह नहीं
बोल सकते और एक भी शिल्प का काम नहीं कर सकते
और किसी को बोलता या करता देखते भी नहीं जिससे
ऐसा विश्वास हो । किन्तु अब (जब कि तुम सभ्यतम हो)

यह बात तुमको झूठी नहीं सूझती। अब कहिये यह दोष किस का था जो तुम उस सच्चे वक्ता को भी झूठा समझते थे जो एक मनुष्य को दस देशों की बोली बोलना और दसविध काम करना बताता था? केवल तुम्हारी ही तो बुद्धि का भ्रम था या और कुछ? अब भी तुम लोग मनुष्य के ज्ञान को परिमित इसीलिये कहते हो कि किसी अपरिमित ज्ञानवान् का अभी तुमने दर्शन वा श्रवण नहीं किया। किन्तु आर्य ऋषियों ने किया था, अतएव ये लोग उक्त बात कहते, किन्तु साधनवशतः मनुष्य के ज्ञान को अनन्त और ज्ञेय विषयों को परिमित कहते हैं। ("यथा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याद् ज्ञेयमल्पम्" यो० सू० पा० ४। अर्थात् चित्त के समस्त आवरण और मल दूर होने से योगी का ज्ञान अनन्त और ज्ञेय वस्तु अल्प होजाती है इति।) यदि तुम लोग भी आर्य ऋषियों की नाईं ज्ञानसम्पन्न होजाओगे, तब तुमको भी मनुष्य का ज्ञान परिमित नहीं सूझेगा, सुतरां मनुष्य को सर्वगुणसम्पन्न भी मानना होगा। अतएव चाहे आप जन्मान्तरवादी नहीं हैं, तो भी आपको सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये चेष्टावान् होना ही होगा। अच्छा प्रियपाठक! आप भी यह बात अवश्य कह सकते हैं, कि एक ईश्वर के सिवाय सर्वाङ्गीण उन्नत गुण सम्पन्न कोई नहीं हो सकता और हमें भी यह बात कुछ अमान्य नहीं है, किन्तु सिद्ध (सफल) हो या न हो सर्वगुणसम्पन्न होने का यत्न वा अभिलाषा करना आप लोगों का भी अवश्य अभिप्रेत होगा। यद्यपि शृङ्गार आदि कामों में अत्यन्त रसिकता होनी जगत् के लिये एक अधन्य व्यापार है और

इसमें आप प्रवृत्त भी मत होइये, क्योंकि आप धर्मिष्ठ वैराग्यवान् ज्ञानी या राजनीतिविशारद हैं। किन्तु शृङ्गार क्या वस्तु है? रसिकता क्या पदार्थ है? इत्यादि बातें यदि कोई पूछे तो उसमें बिलकुल मूक होना तो तुम भी नहीं चाहते होगे। यदि आप संन्यासी हैं तो शङ्कराचार्य की नाईं मूक ही रहिये या अपनी प्रतिष्ठाभङ्ग के भय से दत्तात्रेय की तरह सपत्नीक होके मत्त विचरिये, किन्तु हमें विश्वास है कि इस विषय में सर्वथा ही मूढ़ रहना तो आपको कदापि अभीष्ट नहीं होगा। यदि कोई इस विषय की बात आपसे पूछे तो उस बात के उत्तर जानने को चाहे इस शरीर से चेष्टा नहीं कीजियेगा, किन्तु मन उसके जानने की चेष्टा अवश्य करेगा। पाठक! यदि केवल मन से ये बातें अच्छी तरह नहीं सीखी जायँ तो यह जिज्ञासा ऐसी प्रबल होती है कि शङ्कराचार्य की नाईं देहान्तर धार के भी उसे मिटाना होगा और उक्त बातों को अवश्य सीखना होगा अथवा वैसी सामर्थ्य न हो तो चुप चुप ही उन बातों की मूढ़ता मिटा जिज्ञासु को उत्तर दिया चाहते होंगे इत्यादि। अच्छा जो हो, हमें इन बातों से प्रयोजन नहीं, किन्तु कथनीय यह है कि मनुष्य को सदा ही सर्वाङ्गीण उन्नति की वाञ्छा बनी रहती है, किन्तु उसको फलवती करना ही मनुष्य का कर्तव्य है, अतएव आलस्य छोड़ उसके निमित्त मनुष्य को सदा ही चेष्टावान् रहना चाहिये।

[धर्मदिवाकर से

क्षमा।

[स्वर्गीय पं० माधवप्रसाद मिश्र लिखित।]

क्षमा धर्म का दूसरा लक्षण है। जो पुरुष धीर होता है, क्षमा भी उसीको ग्रहण करती है। धैर्य के बिना क्षमाशील होना कठिन ही नहीं वरंच असम्भव है।

परापराध सहन करने का नाम क्षमा है। जैसा कि बृहस्पतिजी कहते हैं-"किसी के दुर्वचन कहने पर या मार देने पर न तो आप क्रोधित होता है और न उसे मारता है उसको क्षमा कहते हैं। उस पुरुष का नाम क्षमाशील है जो दुःखित किए जाने पर भी अचल, अटल बना रहे, धर्ममार्ग से विचलित न हो। *

यों तो संसार में सभी लोग दूसरों के अपराध सहन किया करते हैं। प्रबल पुरुषों से पुनः पुनः तिरस्कृत होने पर भी बिचारे दुर्बल पुरुष कुछ कहने का साहस नहीं करते। क्षमताशाली अत्याचारी पुरुषों से प्रपीड़ित होने

---

* बाधे चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥

भी दीन प्रजा धारंवार रोकर चुप रह जाती है किन्तु सहनशीलता क्या क्षमा कही जा सकती है? कभी । क्योंकि क्षमा नाम उस गुण का है, जिसमें शक्ति- ी पुरुष शक्ति रखने पर दूसरे के अपराध क्षमा करदें जो पुरुष कायरता या असामर्थ्य से उस कार्य के में स्वभावतः असमर्थ है उसकी क्षमा क्षमा कह- योग्य नहीं है।

ाँ, यदि किसी के दुःख पहुँचाने पर उसके अन्तःकरण पने शत्रु के प्रति किसी प्रकार का कुभाव वा प्रतीकार च्छा तक उत्पन्न न हो और उस कार्य के लिये वह है न समझा जाय, तो वह पुरुष भी निःसन्देह क्षमा- है। क्योंकि, जिस बात की शक्ति उसमें विद्यमान थी उसने काम नहीं लिया। माना कि वह दीन पुरुष को हमने अभी धन मद से मत्त होकर मारा है, वा चिल्लाकर हमारी कुछ हानि नहीं कर सकता तो या वह इस बात के लिये प्रशंसनीय नहीं है कि वह कता था पर रोया नहीं। हमारा बुरा चिन्तन भी कर ा था, पर उसने वैसा नहीं किया; प्रत्युत उसके चित्त के प्रतिकूल विकार तक न हुआ।

स्थ के लिये क्षमा अत्यावश्यक है—" केवल घर से कोई गृहस्थ नहीं होता वरन् क्षमायुक्त होने से होता है " * यदि गृहस्थ क्षमाशील न हो तो दिन उसे कलह करना पड़े और गृहस्थ का सब सुख में मिल जाय। मुक़द्दमेबाज़ी में समस्त धन लुटजाय

हस्थस्तु क्षमायुक्तो न गृहेण गृही भवेत्।

और फिर कोई कौड़ी को भी न पूछे कि आपका क्या हाल है। इसलिये नीतिविशारदों ने कहा है कि जिसके हाथ में क्षमारूपी खड्ग है उसका दुर्जन क्या कर सकता है।

महाभारत में लिखा है कि वनवास के समय अपनी शोचनीय दशा देखकर वीरनारी द्रौपदी से चुप न रहा गया। कौरवों से युद्ध करने के लिए महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार के तीव्र वचन सुनाए जिनको सुनकर एक बार तो कायर पुरुष भी अपनी जान पर खेल जाय और आगा पीछा बिना सोचे युद्ध कर बैठे। किन्तु धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन उत्तेजना पूर्ण वचनों को जो निर्वासिता तिरस्कृता और सुदुःखिता विदुषी द्रुपदनन्दिनी के मुँह से निकले थे, सुन कर कुछ भी क्रोधित न हुए और अनेक प्रकार से क्षमा ही की महिमा दिखाई जिसका यह तात्पर्य है कि क्षमा से बढ़कर कोई धर्म नहीं, क्षमा ही से यह जगत् ठहरा हुआ है, विवेकी पुरुष को निरन्तर क्षमा ही करनी चाहिये और क्षमावान् का लोक और परलोक सब सुधरता है[1]। यह सिद्धान्त है कि जितना दुर्बल होता है, उतना ही वह क्रोधी है और जितना बली होता है उतना ही वह क्षमावान् है। गरुड़पुराण में क्षमाशील पुरुषों में

---

१ क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतञ्च भाविच।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥
क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमर्हन्ति परत्र च शुभा गतिः॥

एक दोष भी दिखाया है। "क्षमाशीलपुरुषों में एक दोष पाया जाता है दूसरा नहीं। इस क्षमायुक्त को लोग असमर्थ समझते हैं"।[1]

सच है, दुर्जन लोग क्षमावान् को अवश्य ही अशक्त मानते हैं। वे समझते हैं इसने हमारे दोष क्षमा नहीं किए, परंतु इसकी ऐसी सामर्थ्य ही नहीं थी जो मुझे दण्ड देता। इसलिये वे उसे बारबार सताते हैं खिजलाते हैं और नाना प्रकार के दुःख पहुँचाते हैं। कितने नराधमों को यह कहते देखा है कि ईश्वर कोई चीज़ नहीं है। यदि यह होता तो क्या हमें पापों का दण्ड नहीं देता! पर वे इस बात को नहीं समझते कि यह सब उस कृपालु की अपार दया का फल है जो दण्ड देने में विलम्ब कर रहा है।

कभी कभी क्षमा से ऐसे भी कार्य हो जाया करते हैं जिनका प्रकारान्तर से होना बहुत ही कठिन है। एक बार आगरे में महात्मा हरिदासजी यमुना में स्नान कर अपने स्थान पर आते थे। मार्ग में शाही क़िला था, जिस पर मल्लाह खानखाना बैठे हुए उनकी ओर घृणा से देखते थे। मल्लाह साहब को यह बात बहुत बुरी लगी कि महात्मा अपने शरीर को मुसलमानों के स्पर्श से बचाते आ रहे हैं इसलिये उन्होंने उनके ऊपर घृणा से थूक दिया और इनकी ओर देख कर फिर यमुना की ओर चले गये। थोड़ी देर के बाद मल्लाह ने देखा कि फिर भी वे स्नान कर उसी तरह आते हैं। क़िले के नीचे आने की देर थी कि फि

---

१ एकः क्षमवता दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेव क्षमायुक्तमशक्तं मन्यते जगत्॥

इन्होंने उनपर थूका और ये देख कर उसी तरह चुपचाप लौट गये।

इस प्रकार ये स्नान कर आते रहे और ये उन पर थूकते रहे। जब ग्यारहवीं बार ये आये तो नव्वाब का भाव बदल गया। उन्होंने सोचा कि चिऊंटी को भी पैर के नीचे दबाने से वह काटती है, परन्तु मनुष्य होकर भी इन्होंने मुझे कुछ भी नहीं कहा! क्या ये मुझे ज़बान से भी कुछ न कह सकते थे, पर नहीं ये सच्चे खुदादोस्त हैं। इनसे अपने गुनाह माफ़ करवाने चाहियें। यह सोच ये उनके चरणों में जा गिरे और उनसे अपने अपराधों की क्षमा चाही। स्वामी हरिदासजी प्रसन्न हो गये और उन्होंने उपदेश दे इनको हरिभक्त बनाया। और ऐसा बनाया कि जिसकी भक्ति देख कर हिन्दुओं को भी कहना पड़ा कि "हरिभक्त खानखाना धन्य है" यदि स्वामीजी उस दिन क्षमा न करते तो आज हम लोगों को खानखाना के भगवद्भक्तिमय सरस श्लोक देखने को न मिलते। इसलिये किसी ने बहुत अच्छा कहा है "मृदुता से मनुष्य कठोर को काट सकता है, और कोमल को भी काट सकता है ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मृदु से साध्य नहीं इससे सबसे तीव्र मृदु को समझना चाहिये[1] मसल है कि ठंढा लोहा गरम को काट सकता है, गरम ठंढे को नहीं"।

[सुदर्शन से

---

१ मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किञ्चित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु॥

मुग़ल बादशाहों की तख़्तनशीनी।

[श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ लिखित]

मुग़ल बादशाहों की तख़्तनशीनी की ऐसी धाम जैसी कि आजकल श्रीमान् भारतेश्वर पञ्चमजार्ज की दिल्ली में होरही है—तवारीख़ में नहीं देखी जाती। शायद तवारीख़ लिखनेवालों ने मामूली समझकर न लिखी हो। दूसरी बात यह भी उनको बाहर से आकर तख़्त पर बैठना नहीं पड़ा जिसके वास्ते सब नया ठाठ बाठ बनाया जाता यहाँ सारा ज़रूरी सामान मौजूद ही था। अमीर सरदार, सेनापति, लाव लश्कर सब यहीं रहता खास दरबार सजे हुए थे. तख़्त और छत्र लगे बेड़ेसों की जगह नज़र निछावर और पेशकश की ठौर खिलअत जागीर और मनसब देने का सो बरता ही जाता था। नाज पानी का काल न और प्लेग का रोग नहीं था, जिसके बन्दोबस्त की सी दौड़ धूप करनी पड़ती। बाद

फिर अमीरों वज़ीरों की उनके पीछे और दरबारियों की नज़र होती थीं। रङ्ग राग होते थे, मङ्गलामुखियों और कवियों को इनाम मिलते थे और कुछ बातें प्रजा के हित की भी होती थीं।

बाबर से लेकर मोहम्मदशाह तक १० बड़े मुग़लबादशाह २०० वर्षों में दिल्ली के तख़्त पर बैठे थे, परन्तु प्रजा के हित की जितनी अधिक बातें जहाँगीर की तख़्तनशीनी के अवसर की तवारीख़ में लिखी मिलती हैं, उतनी दूसरे बादशाहों की उस अवसर की नहीं लिखी हैं। इस वास्ते हम उन्हींको तुज़ुक-जहाँगीरी, जहाँगीरनामा और इकबालनामा जहाँगीरी वग़ैरः तवारीख़ों से यहाँ लिखते हैं।

जहाँगीर बादशाह की तख़्तनशीनी।

जहाँगीर बादशाह अगहन बदी १ गुरुवार, संवत् १६६२ को आगरे में तख़्त पर बैठे थे, उस समय उन्होंने जो पहला हुक्म दिया वह जंजीर-अदालत अर्थात् न्याय की साँकल लटकाने का था जो शीघ्र ही, एक मन खरे सोने की, क़िले में लटका दीगई। उसका एक सिरा यहाँ शाहबुरुज से और दूसरा क़िले के बाहर यमुना किनारे पत्थर के एक थम्भे से बँधा था। यह ६० गज़ लम्बी थी और साठ ही घंटे उसमें गज़ गज़ भर के अन्तर से लगे थे। और यह घोषणा की गई थी कि जो किसी का न्याय अदालत में न हो तो वह बादशाह से पुकार करने के लिये इस जंजीर को हिला दिया करे।

फिर ये १२ हुक्म और निकले जो सारी बादशाही अमलदारी में क़ानून के तौर पर काम में लाने के लिये भेज दिये गये।

(१) ज़कात, तमग़ा और मीरबहरी के कर तथा और भी कई कष्टदायक कर जो हर एक सूबे और सरकार के जागीरदारों ने स्वार्थ के लिये लगा रक्खे हैं छोड़ दिये जावें।

(२) जिन रास्तों पर चोरी और लूट मार होती हो और जो बस्ती से कुछ दूर हों वहाँ के जागीरदार सराय और मसजिद बनावें और कुएँ भी खुदावें ताकि सराय में लोगों के रहने से बस्ती हो जावे और जो वह जगह बादशाही खालसे के पास हो, तो वहाँ के ओहदेदार इन कामों को करावें। व्यापारियों का माल उनकी मरज़ी और आज्ञा के बिना रास्तों में न खोला जावे।

(३) बादशाही देशों में जो कोई हिन्दू या मुसल्मान मरजावे तो उसका धन माल उसके वारिसों को देदें, उस में से कोई कुछ न ले। जो वारिस न हो तो उस माल के वास्ते न्यारा ही एक भण्डार और कर्मचारी नियत कर दें और वह पुण्य के कामों अर्थात् मसजिदों सरायों कुओं और तालायों के बनाने तथा टूटे हुए पुलों को सुधारने में लगाया जावे।

(४) शराब और दूसरी नशे की चीज़ें न कोई बनावें और न बेचें।

(५) किसी घर को सरकारी पड़ाव न बनावें।

(६) किसी आदमी के नाक कान न काटें और मैं भी परमेश्वर से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि इस दण्ड से किसी को दूषित नहीं करूँगा।

(७) खालसे और जागीरदारों के ओहदेदार प्रजा की ज़मीन अन्यायपूर्वक न लें और न जोतें बोयें।

(८) खालसे और जागीरदारों के कामदार जिस परगने में हों वहाँ के लोगों से आज्ञा लिये बिना सम्बन्ध न करें।

(९) बड़े शहरों में औषधालय बना कर रोगियों के लिये हकीमों को रख दें और जो खर्च पड़े वह सरकारी खालसे से दिया करें।

(१०) रबी-उल-अव्वल महीने की १८ ता० से जो मेरे जन्म की तिथि है मेरे पिता की प्रथा के अनुसार प्रतिदिन एक वर्ष गिन कर उतने ही दिनों में जीवहिंसा न करें। प्रत्येक सप्ताह में भी दो दिन जीवहिंसा न हो।

एक बृहस्पतिवार को जो मेरे तख़्त पर बैठने का दिन है। दूसरे रविवार को जो मेरे बाप का जन्मदिवस है। वे भी इस दिन को बहुत धन्य मानते थे। क्योंकि उनका जन्मदिन होने के सिवाय सूर्य भगवान् का भी यही दिन है और यही जगत् की उत्पत्ति का पहला दिन है।

(११) यह साफ़ हुक्म है कि मेरे बाप के नौकरों के मनसब और जागीरें ज्यों की त्यों बनी रहें। बरंच यथा-योग्य प्रत्येक फ़ायदा बढ़ाया जावे और सब मुल्कों के माफ़ी-दारों की माफ़ियां उन्हीं पदों के अनुसार, जो उनके पास हों, स्थिर रहें और मीरानसदरजहाँ (धर्माध्यक्ष) परवरिश करने योग्य लोगों को नित्य प्रति मेरे सामने लाया करें।

(१२) सब अपराधी जो वर्षों से क़िलों और क़ैदख़ानों में क़ैद हैं छोड़ दिये जावें।

फिर बादशाह ने ११ वें नियम के अनुसार अपने बाप के नौकरों के मनसब भी बढ़ाये और उनको काम भी दिये। अजमेर के राजा मानसिंह और "ख़ान आज़म मिर्ज़ा कोका" जो अकबर बादशाह की बीमारी में कुल्लम-

कुल्ला हो रहे थे उनको बादशाह बनाना नहीं चाहते थे उन के बड़े बेटे सुलतान खुसरो को तख़्त पर बैठाने की सट पट करते थे—बादशाह ने उनके भी क़सूर माफ़ कर दिये और उनके ओहदे काम और मनसब भी सब बने रखे। अपने और अपने पिता के नौकरों की मनोकामना पूरी करने के लिये कहा कि जो अपनी जन्मभूमि को जागीर में माँगना चाहता हो माँगले। उसको चंगेज़खाँ के तौरे (क़ानून) के अनुसार लाल छाप का पट्टा कर दिया जायगा जिसमें फिर कभी कुछ हेरफेर न होगा। फिर बादशाह ने बहुत दान पुण्य किये और बीस हज़ार रुपये दिल्ली के ग़रीबों को बाँटने के लिये भेजे। तबेले के कर्मचारियों को हुक्म दिया कि ३० घोड़े रोज़ दान में देने के लिये हुज़ूर में लाया करें।

हिन्दुस्तान के सूबों की ज़क़ात माफ़ करने के पीछे, जो करोड़ों रुपयों की थी काबुल के सूबों की ज़क़ात भी माफ़ कर दी, जिसकी जमा एक करोड़ तेईस लाख दाम (तीन लाख साढ़े सात हज़ार रुपये) की थी और काबुल क़न्दहार की बड़ी आमदनी यही थी।

इस तरह जहाँगीर बादशाह ने तख़्त पर बैठ कर, प्रजा के सुख, किसानों के हित, व्यापारियों के सुभीते, ग़रीबों के लाभ, रोगियों के इलाज, क़ैदियों के छुटकारे, पशुओं के जीवनदान, और न्याय नीति बढ़ाने के नियम प्रचलित किये थे और हिन्दू मुसलमानों को बराबर काम, मनसब और ओहदे दिये थे।

कर्तव्यकर्म ।

[पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा लिखित]

जिस समय इस भारत कर्मभूमि को महात्मा मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, व्यास, बृहस्पति शुक्र, वाल्मीकि, विदुर और भगवान् श्रीकृष्ण आदि उदारचरित तथा ज्ञानवृद्ध तपोवृद्ध महामहिम पुरुष अपनी सत्ता से अलंकृत कर रहे थे, उस समय उक्त महापुरुषों ने अपने अपने ग्रन्थों में यत्र तत्र वे सब बातें लिख रक्खी थीं जिन्हें उन लोगों ने चिरकाल के अनुभव और सत्समागम के प्रभाव से जाना था उन वस्त्वर्थपारदर्शी महापुरुषकृत ग्रन्थों में उन सब साधनों का सविस्तर यथातथ्य वर्णन पाया जाता है जिनके अनुष्ठान द्वारा मनुष्यमात्र इस संसार में रहने तक उसे सुख शान्ति देने वाली वस्तुओं को प्राप्त कर-चिरकाल पर्यन्त उनका उपयोग लेने के लिये समर्थ होसकता है। इतना ही नहीं, किन्तु इस संसार की यात्रा समाप्त करने के पश्चात् भी मनुष्य को सुख शान्ति देने वाले सिद्धान्त स्वरूप साधनों का उपदेश उक्त महर्षियों

के ग्रन्थों में पाया जाता है। इस बात को वर्त्तमान समय के सब देश के विद्वच्चक्रचूडामणि सज्जन जन मानते हैं।

हमारे देश के प्राचीन आचार्यों ने कर्तव्यकर्म की गुरुता योग्यता और महिमा को इतना श्रेष्ठ माना है कि उन लोगों ने उसे धर्म के पर्याय पद पर स्थित कर दिया है। तात्पर्य उन लोगों के ग्रन्थों में कर्तव्यकर्म प्रायः धर्म शब्द द्वारा व्यक्त किया हुआ पाया जाता है। वास्तव में कर्तव्यकर्म का माहात्म्य और गौरव ऐसा ही है कि वह धर्म मानकर किया जाय।

आचार्यपुङ्गव शुक्रजी ने हज़ारों वर्ष के पूर्व अपनी पुस्तक में कर्तव्यकर्म के विषय में निम्न लिखित सिद्धान्त लिख रक्खा है कि स्वधर्म अर्थात् स्वकर्तव्यकर्म का पालन किये विना किसी को सुख की प्राप्ति नहीं होसकती, स्वधर्म का पालन ही परम तप है * सारांश स्वधर्म और तप अभिन्न हैं। यही कारण है कि तप की सहायता से स्वधर्म की सदा वृद्धि होती रहा करती है।

उक्त उपदेश में स्वधर्म और तप की अभिन्नता कही गयी है। अतः यह उचित जान पड़ता है कि हमारे देश के आचार्यों ने तप की जो व्याख्या लिखी है वह भी यहाँ लिख दीजाय।

भगवान् वेदव्यास ने अपने विश्वविख्यात महाभारत के शान्तिपर्व में तप की व्याख्या इस प्रकार लिखी है—मनसा वाचा कर्मणा किसीको दुःख न देना, सत्य बोलना

---

* विना स्वधर्माच्च सुखं, स्वधर्मो हि परं तपः।
तपः स्वधर्मरूपं यद्वर्द्धितं येन वै सदा॥

दान देना, इन्द्रियसुखों के वश न होना और निराहार रहना इनसे बढ़के अन्य तप नहीं है * सारांश उक्त सब बातें तप की अङ्गभूत हैं। इनमें से जो अङ्ग परिपूर्ण नहीं रहता वही तप का अङ्ग हीन हो जाता है।

ऊपर हम इस बात को लिख आये हैं कि तप करने से कर्तव्यकर्म की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। तप शब्द का अभिप्राय जानकर हमारे पाठक महोदयों को यह विदित ही होचुका होगा कि कर्तव्य-कर्म-चिकीर्षु जन के लिये तप की अत्यन्त आवश्यकता है इतना ही नहीं किन्तु अहिंसा, सत्य, दान, इन्द्रियनिग्रहादि लक्षणाक्रान्त तप के विना कभी कोई कर्तव्यकर्मपारगामी हो ही नहीं सकता। साथ ही हमारे विज्ञ पाठकों को यह भी विदित ही हो चुका होगा कि विना स्वकर्तव्यकर्म किये कभी किसी को सुख नहीं मिल सकता। इस प्रतिपादन से हमारे विचारशील पाठकों को यह बात सहज ही में ज्ञात हो सकती है कि व्यक्तिविशेष, जातिविशेष व देश विशेष का अभ्युदय उस उस व्यक्तिविशेष जातिविशेष व देशविशेष की कर्तव्यकर्मपरायणता पर अवलंबित रहा करता है। हमारे यहाँ के रामायण महाभारतादि ग्रन्थों का सात्त्विक रीति से पठन पाठन करने से यह बात ज्ञात होसकती है कि जब कभी जिस किसी ने अपने कर्तव्य-कर्म का यथावत् पालन किया है तब उसे हठात् विभव प्राप्त हुआ है। इसके विपरीत जब जब लोगों ने कर्तव्य-

---

* अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम्॥

कर्म से मुँह मोड़ा है तभी उन्हें पतित होकर दीन हीन होना पड़ा है।

इस संसार में जितने मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उतने सब नाना प्रकार के कर्तव्यकर्म स्वरूप सूत से ग्रथित रहा करते हैं। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह अपने माता पिता विषयक दास दासी विषयक पास पड़ोसी विषयक, सेवक स्वामी विषयक, कृषि वाणिज्य विषयक, जाति देश विषयक आदि अनेकानेक अपने कर्तव्यकर्मों का यथातथ्य पालन करने के लिये सत्यतापूर्वक प्रयत्न करे। इसी बात को शब्दान्तर में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जो माता पिता चाहे वह विभवसम्पन्न हों चाहे साधारण अवस्था के हों, अपने पुत्रों को उचित रीति से पालन पोषण कर उन्हें यथोचित शिक्षा देने का समुचित प्रबन्ध करते हैं उनके पुत्र हृष्ट पुष्ट सुशिक्षित एवं सुशील होकर अपने कुल की अधिक उन्नति कर सकते हैं। किन्तु जो लोग अपने विभव विस्तार के मोह से या अज्ञानवश अपने पुत्र पौत्रों का अनुचित लालन पालन कर उन्हें शिक्षा देने की उपेक्षा करते हैं उनके पुत्र पौत्र विपुल धन राशि के उत्तराधिकारी होने पर भी अपने कर्तव्यकर्म का पालन न करने के कारण अपने बाप दादा की सब सम्पत्ति को खोकर भीख माँगने लग जाते हैं।

संसार के घटनाचक्र पर ज्यों ज्यों विचार करते जायें, त्यों त्यों इस बात का रहस्य अधिकाधिक ज्ञात होता जाता है कि जो सम्बन्ध कार्य कारण में पाया जाता है वही सम्बन्ध, प्रत्येक मनुष्य, जाति या देश की उन्नति का उस मनुष्य जाति या देश के कर्तव्य में पाया जाता है।

जैसे मृत्तिका के विना कोई घर नहीं बना सकता ठीक वैसे ही कर्तव्यकर्मरत हुये विना कोई जन यथार्थ सुखी नहीं होसकता। इस कर्तव्यकर्म की गुरुता और उसके परिणाम की न्यूनाधिकता प्रत्येक मनुष्य के दायित्व के अनुसार न्यूनाधिक रहा करती है। जैसे एक कुटुम्ब में दो प्राणी हैं और दूसरे में पाँच। इन दोनों कुटुम्बों के भरण पोषण का भार उनके अगुआओं पर अवलंबित है। पहले कुटुम्ब का अगुआ-यदि अपने कुटुम्बविषयक कर्तव्य-कर्म का पालन नहीं करेगा तो उसकी अकर्मण्यता का फल उसके आश्रित केवल दो जनों को भोगना पड़ेगा। किन्तु दूसरे कुटुम्ब का अगुआ यदि अपना कर्तव्यकर्म नहीं करेगा तो उसका परिणाम उसके आश्रित पाँच जनों को भोगना पड़ेगा। तात्पर्य, जितना अधिक दायित्व होता है उतना ही अधिक कर्तव्यकर्म के पालन से सुख और उसकी विमुखता से दुःख हुआ करता है। जिस प्रकार बड़े भारी जहाज़ में छोटासा छिद्र हो जाता है और उसकी उपेक्षा करने से वह उस जहाज़ को जलमग्न कर देता है ठीक उसी प्रकार चाहे कोई मनुष्य अतुल धन सम्पत्ति का स्वामी भले ही हो; किन्तु ज्योंही वह अपने कर्तव्यकर्म पालन के किसी अंश में उपेक्षा करने लगता है त्योंही उसके अधःपात का आरम्भ होजाता है। इस प्रतिपादन से यह बात सिद्ध होजाती है कि जिस कुटुम्ब में जिस गाँव में जिस जाति में जिस देश में स्वकर्तव्य-कर्म जागरूक सज्जनों की संख्या जितनी अधिक पाई जाती है उतनी ही अधिक उस कुटुम्ब, उस गाँव, उस जाति और उस देश की उन्नति की आशा पाई जाती है। सत्य

समृद्धि, उन्नति, उदय उत्कर्ष आदि ऐसी चीज़ें हैं जो विना स्वकर्तव्यकर्म का यथातथ्य पालन किये न कभी किसी को प्राप्त हुई हैं और न कभी होंगी। कोरी बातों का जमा खर्च करने से यदि कोई सिद्धार्थ होसकता तो संसार में सभी लोग सुखी और उन्नत होजाते। क्योंकि कोरी बातें करने में किसी को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता।

भारतवर्ष को मटियामेट करनेवाला कौरव पाण्डवों का विषम संग्राम होने के पूर्व इस भारतवर्ष में कर्तव्य-कर्म के एकनिष्ठ भक्तों की संख्या बहुत अधिक थी। उस युद्ध के पश्चात् वैसे लोगों की संख्या ज्यों ज्यों घटती गई त्यों-त्यों इस देश के विभव विस्तार तथा उसके उदय उत्कर्ष की मात्रा भी घटती चली गई। कर्तव्यकर्म की भक्ति के ह्रास के साथ साथ चरित्रसंगठन की बात भी इस देश के लोगों से दूर होगई। कर्तव्यकर्म की विमुखता और चरित्रसंगठन की शिथिलता के जो प्रकृति सुलभ अनिष्ट परिणाम हुआ करते हैं उनका सोलहों आने आधिपत्य इस देश पर हो गया है।

कर्तव्यकर्म की तत्त्वभूत योग्यता को जानने वाले तथा कर्तव्यकर्म के पूर्ण उपासक हमारे वर्तमान प्रभु अङ्गरेज़ों का जब से इस देश में आगमन हुआ है तब से उनके संसर्ग से इस देश के लोगों का ध्यान अपने पूर्वजों के कई उत्तमोत्तम तथा अत्यन्त आवश्यक गुणों की ओर आकृष्ट होने लगा है। उन्हींमें से कर्तव्यकर्म की उपासना भी एक है। सौभाग्य का विषय है कि अब हमारे देश में भी कर्तव्यकर्म के आराधक लोगों का आविर्भाव होने लगा

है। जिस दिन हमारे देश में कर्तव्यकर्म की उपासना करने वाले पावनचरित सज्जनों की संख्या यथायत् बढ़ जायगी उस दिन इस देश का कल्याण होने में देर नहीं लगेगी। यह बात कभी सम्भव नहीं होसकती कि जिस काम को कर्तव्यकर्म के प्रेमी सज्जन प्रारम्भ करें वह परिपूर्ण न होसके। क्योंकि कर्तव्यकर्म में कार्य को पूर्णरूप से सिद्ध करने की शक्ति कूट कूट कर भरी हुई रहा करती है। ऐसी अवस्था में इस समय हमें यही मानना पड़ता है कि हमारे देश के जितने मनुष्य मिलकर एक काम को प्रारम्भ करते हैं उतने सब उस कार्य की सिद्धि से संबन्ध रखने वाले अपने अपने कर्तव्यकर्म का यथायत् पालन नहीं करते। उनमें से दो एक सज्जन अपना तद्विषयक कर्तव्यकर्म करते हैं। इसका परिणाम इतना ही होता है कि उनकी यह व्यवस्था कुछ दिन लों चलती रहती है। पर उसका अभिप्रेतार्थ सिद्ध नहीं होसकता। जिस कार्य की सिद्धि कीजिये बीस सज्जनों के कर्तव्यकर्म के बल की आवश्यकता है वह केवल एक दो सज्जनों के कर्तव्यकर्म के बल से क्योंकर पूर्ण हो सकता है। अतः हमारे देश के प्रत्येक जन को अपने कर्तव्यकर्म की पूरी पूरी आराधना करना सीखना और करना चाहिये। जिन लोगों के हाथ में जितने बड़े काम हैं उतनी ही अधिक बड़ी उनकी कर्तव्य-कर्म-पटुता होनी चाहिये।

एक समय इसी भारत में वह था जब इस देश के कर्मवीर लोग अपने जीवन के अल्पातिअल्प अंश को विद्या विज्ञान शौर्य आर्यता और विभव की प्राप्ति किये बिना बिताना घोर पाप समझते थे। एक समय वर्तमान है कि

लिखे पढ़े लोगों का बड़ा भारी समूह अपने अपने बलवान् नीच स्वार्थ के पाश में इस प्रकार बद्ध हो रहा है कि उसे कर्तव्यकर्म की कुछ खबर ही नहीं है। लोक संग्रह की उसे अणुमात्र भी चिन्ता नहीं है। यहाँ लों जो हमने निवेदन किया है उससे हमारे पाठकों को कर्तव्यकर्म की उपासना और उसके मीठे फलों का कुछ बोध तो अवश्यही हो जायगा।

संसार की उन्नति और अवनति के बीज मूल कारणों को पूर्णतया जानने वाले महर्षि वेदव्यास ने सभापर्व में इस आशय का उपदेश दिया है कि जिस किसी मनुष्य या जाति या देश को विभव प्राप्ति की इच्छा हो उसे उचित है कि वह दूसरे के धन की इच्छा कभी न करे। साथ ही अपने कर्तव्य काम में निरन्तर रत रहा करे और अपने शरणागत लोगों की रक्षा किया करे। यह तीन बातें वैभव का आदि कारण हैं *। हम भरोसा करते हैं कि हमारे विवेकी पाठकगण व्यासजी के उक्त उपदेश पर विचार तथा तदनुसार अपना चरितगठन करने के लिये उद्योग करेंगे।

---

* अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु।
रक्षणं समुपात्तानामेतद्वैभवलक्षणम्॥

शारीरिक सुधार।

[बाबू जगन्नाथशरण लिखित]

यह प्रसिद्ध बात है औ ऐसी ठीक है जैसे गणित का सिद्धान्त कि जिसकी स्थिति है उसके लिये या तो कुछ आश्रय होना चाहिये या उसकी उत्पत्ति के कारण का कोई मूल होना चाहिये या उसके आधार के लिये कोई कील काँटा होना चाहिये अर्थात् कुछ भी चाहिये जो कैसा ही सूक्ष्मांश उसकी सम्पूर्ण रचना का हो पर आवश्यक मूल कारण रहे जिस पर सारी रचना निर्भर करती है। कोई गृह बिना नेंव के नहीं बनाया जासकता। और यह नेंव कोई स्वतन्त्र अर्थ सिद्धि नहीं करती और देखने में लख भी नहीं पड़ती चाहे उसकी बनावट कैसी ही पक्की और पूरी हो, बस ठीक ऐसा ही सम्बन्ध मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क में है अर्थात् उसके मानसिक व्यवहार औ शारीरिक पुष्टि में इन दोनों का यह परस्पर संबन्ध समझ जाने पर यह स्पष्ट होजाता है कि विद्यार्थी को अपने शरीर

नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि अपने शरीर के स्वास्थ्य पर अर्थात् उसके प्रकृत्यनुसार भरण पोषण औ चर्या पर विद्यार्थियों की बहुत न्यून दृष्टि रहती है। और जिसकी जितनी ही अध्ययन में अधिक रुचि रहती है वह उतना ही इस विषय में चूकता है। औ अपने को विना पताका संकेत की रेलगाड़ी सदृश प्राणघात विषयभूमि के करारे पर मानो अजान घसीटते लिये जाता है। इसलिये बुद्धिमानी यही है कि छात्र को अध्ययनकर्म ग्रहण करने के पूर्व इस बात को दृढ़ता से चित्त में धारण कर लेना चाहिये कि प्रायः सब निश्चल कार्य (अर्थात् ऐसे काम जो बैठके, विना हाथ पाँव को व्यापार में लाये, किये जाते हैं) और बैठे रहने के उद्यम के साथ साथ मानसिक कठोर और दृढ़ परिश्रम कुछ कुछ आरोग्य में अवश्य बाधा देता है। औ जो स्वाभाविक क्षीण औ दुर्बल हैं उनके तो निरन्तर पुस्तकों में लगे रहने से अङ्ग अङ्ग बलहीन हो सारा शरीर गल पच जाता है। इस शिक्षा से चेताये जाने पर भी यदि छात्रगण दृढ़ सङ्कल्प के साथ अपनी शारीरिक रक्षा में तत्परता न करें तो दोषभार उन्हींके सिर पर रहेगा जैसे कोई कारीगर अपने हथियारों को चोखा रखने में या सिपाही अपनी बाकद को सूखी रखने में आलस्य करे तो दोष उसीका होता है। अब मैं थोड़े शब्द द्वारा सिद्ध मुख्य स्वास्थ्य के उपायों को कहना चाहता हूँ।

(२) शरीर की पुष्टि औ बल शक्ति औ वास्तविक में संसारमात्र के सब जीवों की शक्ति व्यवसाय और उद्यम ही पर निर्भर करती है। सब जीवन पोषण या व्यवसाय ही है। शरीर के साथ अङ्ग औ इन्द्रिय के उचित नियमानुसार

व्यवहार औ व्यवसाय को आरोग्य कहते हैं। औ पूर्ण आरोग्य ही पौरुषवान् और बलवान् होता है। बिना बलवान् हुए भी मनुष्य को स्वास्थ्य होसकता है। परन्तु कुछ न कुछ आरोग्य बल पौरुष को बढ़ाता है। औ रोग निर्बलता को बढ़ाता है। सब ने सृष्टि में देखा होगा कि पदार्थ नित्य बढ़ने ही से वृद्धि पाते हैं। यह बढ़ना वृद्धि शक्ति के व्यवहार औ व्यवसायसेही होता है और जो कुछ इस शक्ति के व्यवसाय में बाधक होता है जैसे वेगवान् वायु या पाला वह उसकी वृद्धि औ पुष्टि का अवरोध करता है। इसलिये विद्यार्थियों को स्मरण रखना चाहिये कि कुर्सी पर या चौकी पर बैठ गर्दन झुका के पुस्तकों में लगा रहना कदापि शरीर की पुष्टि औ वृद्धि का कारक नहीं हो सकता। रुधिर का बिना अटकाव शरीर की नाड़ियों में भ्रमण करना औ स्नायुओं का चलना बिना व्यवसाय औ उद्यम के नहीं हो सकता यदि इनसे यथोचित व्यवहार औ उद्यम का काम न लिया जाय तो प्रकृति के नियमों को उल्लंघन करने का फल अवश्य मिलेगा। प्रति छात्र को उचित है कि खुले मैदान में प्रतिदिन कम से कम दो घंटे टहला करे। ऐसा नहीं करने से पावों में ठण्ढा पड़ना, शरीर के आन्तरिक भागों में विकार आ जाना, तथा नाना प्रकार के पेट औ शिरोरोग का उत्पन्न होना काल पाके स्वयं ही मानों जता देंगे कि प्रकृति प्रतिकूल आचरण से क्या फल होता है। यदि तुम अपने आचरण को न सुधारोगे तो दुष्ट हठी बालक सा तुम्हारा दण्ड अवश्य होगा, क्योंकि प्रकृति किसी कोमल चित्त मनुष्य शिक्षक की भाँति दण्ड में दयालुता नहीं कर सकती। कोई कारण भी नहीं जान

पड़ता कि छात्रगण बैठे रहने का रोगजनक अभ्यास क्यों करते हैं। मनुष्य जैसा बैठके विचार सकता है, वैसा खड़े होके भी विचार सकता है। औ पुस्तक पढ़ना कहिये तो इन दिनों बड़ी से बड़ी पोथी भी बहुत सस्ती और हल्की जिल्दों में मिलती हैं। तब तो कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि क्यों छात्र गले औ पीठ को मोड़ छाती को झुका देते हैं जब कि उनके हाथों में पुस्तक आ पड़ती है। मनुष्य किसी काव्य या नाटक को अधिक उत्तमता औ सरलता से टहलते पढ़ सकता है। बैठे रहने का अभ्यास बहुत दुःखदायी होता है। जहाँ तक हो इसका त्याग करना चाहिये। परन्तु यदि बैठना ही हो या बैठना ही पड़े तो सदैव सीधा बैठना चाहिये कि छाती आगे की ओर अकड़ी रहे। औ जब भाषा औ कविता पढ़ना हो तो ऊँचे स्वर से पढ़ना चाहिये। इस अभ्यास की गुण प्रशंसा अलसिकन्दरिया के क्लिमनिज़ साहब ने बहुत की है। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो फेफड़े में बल आता है जो जीवन का आधार है औ कान शब्दों के उच्चारण से भीन कर उनके सूक्ष्म भेदाभेद के ज्ञान को प्राप्त करते हैं। जिस पर इन दिनों स्कूलों तथा शिक्षाप्रणालियों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्याप्राप्ति के उपायों से औ निश्चल बैठकी साधने से कोई भी संबन्ध नहीं देख पड़ता। छात्रों को पुस्तकों से बहुत कुछ काम रहता है। सत्य है, परन्तु देखिये जैसे किसी को होमर पढ़ना हो तो वह किसी पर्वत की शिखा पर या हरी वनस्पतियों के बीच में बैठके वैसे ही अध्ययन कर सकता है जैसे किसी ठण्ढी अंधेरी, कोठरी में। स्केलियस के नाटक या प्लेटो के वार्त्तिक का आनन्द

कदापि कम नहीं हो सकता किन्तु कुछ बढ़ ही जायगा यदि ये वृक्षों के सुगन्ध समीर में या प्रचण्ड जल प्रवाह के कोलाहल के समीप में बैठके अध्ययन किये जायँ। यदि पढ़ने में शब्द कोष का रखना अवश्य हो तो उसके लिये यह एक बहुत अच्छी रीति है कि प्रथम उसको एक बार अध्ययन करके कठोर शब्दों की सूची बना रखें कि फिर दूसरी बार अध्ययन में कोष का कुछ प्रयोजन न रहे। विद्यार्थी को अपनी स्वास्थ्यरक्षा तथा उत्तम शिक्षा औ हित साधन के लिये यही करना चाहिये कि प्रत्येक स्थानों में अपनी पुस्तकों का गन्ध न लिये फिरे जैसे कोई कोई व्यसनी तम्बाकू का गन्ध लिये फिरते हैं। पुस्तकों से इस भक्ति रोग की छूत बचाने के लिये सब से उत्तम उपाय छात्रों के लिये यही है कि वालंटीयर दल में अपने को भरती करावें जिसके ड्रिल क्वायद में दो गुण हैं कि पुस्तक पाण्डित्य के दोषों को झाड़ देता है और मनुष्यों को उन सब कामों में कटिबद्ध रखता है जो पौरुष और सच्ची राजभक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अब के प्रशियन लोग प्राचीन यूनानियों के सदृश व्यूह (क्वायद ड्रिल) के बहुमूल्य गुणों को भली भाँति जान प्रत्येक मनुष्य को सेना में रख नियत काल तक शिक्षा देते हैं परन्तु इस देश में सब मनुष्यों को शीघ्र ही पेट के उद्यम की चिन्ता लग जाती है जिससे उनके पौरुष पराक्रम तथा प्रजोचित कर्तव्य में धब्बा लग जाता है। जब रेल और धुआँकश सी सुलभ सवारियां इन दिनों विद्यमान हैं तब तो छात्रगण! तुमको केवल शिक्षा लाभ करने का सड़ी पुरानी पुस्तकों ही द्वारा कोई बहाना ही नहीं रहा, क्यों तुम महीनों पुस्तकों

भी अंश प्रायः लोग नहीं रखते जिसका चित्त इसमें नहीं प्रवृत्त होता। व्यायाम संबन्धी खेल बहुतही उत्तम होगा। छोटे लड़के नवयुवकों के लिये कन्दुकक्रीड़ा (क्रिकेट) और गम्भीर स्वभाववाले कुमारों के लिये अंटायोल बहुत अच्छे खेल हैं। सर्वसाधारण के लिये चाहे बूढ़ा या जवान हो गाल्फ का खेल बहुत अच्छा है। भिभरी खेलना यदि उचित से अधिक न हो जैसा आक्सफ़ोर्ड औ केंब्रिज़ में होता है बहुत पौरुष का खेल है औ पाल औ पतवार का सूक्ष्म विधान जैसा शेटलैण्ड औ हेबिरिडिज़ सागरों में होता है बहुत उत्तम कला है जिसमें शारीरिक बल की वृद्धि होती है वर्षाकाल में अंटा सब से उत्तम खेल है। इसमें नेत्रशक्ति स्पर्शशक्ति औ गणित में चमत्कारी बढ़ती है। इन सब खेलों के आगे ताश का खेल तो गदहापन है। औ शतरञ्ज तो खेल ही नहीं कहा जा सकता। यह अध्ययन के तुल्य है। जिसमें बुद्धि को बहुत श्रम पड़ता है। जिनको मस्तिष्क का व्यापार बहुत कम करना है उनके लिये तो मनफेर हो सकता है। पर औरों के लिये नहीं।

३-भोजन औ पान के विषय में कुछ कहना अवश्य है। आवर नाती का कहा हुआ है कि दो प्राणघातक शत्रु इस संसार में हैं बहुभोजन औ बहुकार्य। बहुभोजन विद्यार्थियों के दौर्बल्य का कारण नहीं है। क्योंकि ये बहुभोजन से नहीं किन्तु अल्पाहार के कारण से अधिक दुर्बल रहते हैं। भोजन तो अवश्य ही है पर इसके साथ पुष्टिकारक औ बलवर्द्धक भी होना चाहिये। इसके विवरण जानना हो तो वैद्यों के यहाँ जाओ। पर यह सर्वसम्मत

४—मेरी समझ में छात्रगण को उन दोषों को भी दिखलाना आवश्यक है जो सङ्कीर्ण स्थानों में औ बन्द घरों में जहाँ वायु औ प्रकाश का बहुत कम प्रवेश है-रहने से होते हैं। दुष्ट अशुद्ध वायु से रुधिर कभी शुद्ध नहीं बनता। दुष्ट रुधिर सारे शरीर को रोगी बना देता है। पर मनुष्य को कुछ भी इसके दुष्ट फल का शीघ्र अनुभव नहीं होता। बिना जाने मनुष्य उस विष समान दुष्ट वायु को श्वास द्वारा पान किये जाते हैं। जो अनिष्ट धीरे धीरे आक्रमण करता वह बहुत घोर भयानक होता है। छात्रगण जो कोठरियों में निवास करते हैं उनको उचित है कि उनको खोले रक्खें औ जब बाहर जाँय तब भी सब किवाड़ औ खिड़कियों को खुली रहने दें। औ रात को भी बन्द न रक्खें यदि वायु का झकोरा बहुत नहीं आता हो, ऋतु जो हो गरमी या जाड़ा। किसी किसी उष्ण प्रान्त में रात को प्रायः दुष्ट वायु चलता है वहाँ के लिये यह नियम न रक्खा जाय तो कोई विशेष हानि नहीं है।

५—निद्रा के विषय में जो कुछ कहा जाय। कोई तो कहेंगे कि इसके लिये क्या नियमबन्धन! स्वभावानुसार जब मनुष्य को नींद आये, तब सोये औ मुर्गे की बाँग सुन या सूर्य का प्रकाश देख उठे। निस्सन्देह यह नियम बहुत उत्तम है यदि प्रकृति के अनुसार हम लोगों के और सब नियम भी हों। पर प्रकृति को हम लोग इतना ठगते हैं और तिरस्कार करते हैं कि वह अनुकूल नहीं रहती औ उसके अनुसार चर्या निष्फल होती है। निद्रा के विषय में छात्रगण बहुत भूल करते

हैं किन्तु उनका धर्म ही निद्रा के प्रतिकूल है। कोई ऐसे भी हैं कि शयनकाल ही में मस्तिष्क को अनेक चिन्ता औ मनन से पीड़ित करते हैं। मस्तिष्कक्रिया अत्यन्त ही निद्रा की प्रतिबन्धक है। अतएव विद्यार्थी को उचित है कि अपने अध्ययनकाल को इस प्रकार बाँट दे कि शयनकाल के पूर्व कोई बड़े मस्तिष्क वाले गहरे काम न करने पड़ें। रात का अन्तिम कार्य हलका औ सरल होना चाहिये। इससे भी तो अच्छा यह होगा कि शयन के पूर्व एक घंटा टहले या किसी से वार्तालाप करे। तब इसमें कोई सन्देह नहीं रहेगा कि निद्रा आपसे आप बहुत शीघ्र आ जायगी। कितना सोना चाहिये इसका एक कोई नियम स्थिर नहीं किया जासकता। प्रायः लोग छः घण्टे से कम औ आठ घण्टे से अधिक नहीं सोते। जो छात्र आठ या नौ घंटे सोने के अनन्तर दो घंटे तक टहला भी करे उसको स्वयं विदित होजायगा कि शरीर को चैन औ मन को विश्राम देने के लिये कितने काल तक उसके लिये सोना हित है। सवेरे उठने के उत्तम गुणों को मैं भली भाँति नहीं कह सकता क्योंकि मुझे स्वयं सवेरे उठने का अभ्यास नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिना कष्ट उठाये स्वभावतः सवेरे उठना बहुत उत्तम औ स्वास्थ्यकारक है। बड़े बड़े महान् पुरुषों के लिये जिनके समय अनेक धंधे औ उद्यम में बँट रहे हैं यही एक बेला बुद्धिमानी के विचार औ ईश्वराराधन के निमित्त शेष रह जाती है।

स्नान भी स्वास्थ्य के लिये बहुत उपकारी है मैंने स्वयं प्रसिद्ध स्नानागारों को देखा है। औ इसके गुण औ

सिद्धान्तों को विचारा भी है। स्नानागारों की जलक्रिया से शरीर बहुत ही पुष्ट और स्वस्थ होता है। पर ये क्रियायें व्ययसापेक्ष हैं। विद्यार्थियों के लिये इतना ही करना थोड़ा उपयोगी नहीं होगा कि यदि शरीर रोगी और दुर्बल नहीं हो तो प्रातःकाल प्रति-दिन नियम से स्नान करे। पर यदि जल अप्राप्त हो तो अँगोछे को भिगोके शरीर को पोंछ दिया करे और उसके अनन्तर सूखे वस्त्र से अङ्ग को मल दे कि चमड़े में गर्मी आजाय।

गाँवों में कातने और बुनने का काम।

[श्रीयुत प० श्रीकृष्ण जोशी लिखित]

सभ्य जातिवाले मनुष्यों के लिये अन्न के अनन्तर वस्त्र ही सब से आवश्यक पदार्थ है। इस बात पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज की समृद्धि के लिये कपड़ा बनाने का व्यवसाय कितने महत्त्व का है। यह सच है कि समाज बिना किसी अङ्ग के इस व्यवसाय में लगे हुए भी समृद्ध हो सकता है। किन्तु ऐसी अवस्था में समृद्धि केवल छोटे समाजों को प्राप्त हो सकती है। इन समाजों की समृद्धि के लिये यह भी आवश्यक है कि वे ऐसी वस्तु या वस्तुओं को बनाते हों जिनके लिये बराबर माँग हो और जिनकी बिक्री से अच्छा लाभ होता हो। उदाहरण के लिये खेतिहरों के एक ऐसे समाज के ऊपर विचार कीजिये जिसके पास इतनी भूमि हो कि उसमें उपजा हुआ अन्न उनकी आवश्यकता से अधिक हो। इतना अधिक हो कि उसको दूसरे समाज या समाजों के हाथ बेच कर उन्हें इतना रुपया मिल जाय कि वे उससे कपड़े मोल ले सकें, उन्हें जो 'कर' टैक्स देने

पड़ते हैं उन्हें दे सकें तथा अपनी अन्य आवश्यकताओं को पूरी कर सकें और इसके अतिरिक्त कुछ धन इकट्ठा कर सकें जो कि बुढ़ापे और आपत्ति के अवसरों पर काम में आये। एक दूसरा उदाहरण हम एक ऐसे समाज का ले सकते हैं जिसमें कि लोग गाय भैंस पालते हों। उनके पास उनको चराने के लिये प्रशस्त भूमि हो और दूध तथा गाय भैंस बेच कर वे इतना रुपया कमा लेते हों कि उससे वे अपनी आवश्यकता के सभी पदार्थों को मोल ले सकें। तीसरा उदाहरण हम ऐसे समाज का ले सकते हैं जिसकी भूमि में कोयले या धातुओं की खानें हों। यदि इस समाज के लोग केवल धातुओं को निकालने और बेचने का काम करें, तब भी वे उन्हें देश विदेशों में बेच कर इतना धन कमा सकते हैं कि जिससे उनके सब काम चल जायँ।

इन समाजों की सामान्य समृद्धि के लिये भी यह आवश्यक है कि समाज के जितने लोगों का शरीर काम करने के योग्य है उनमें से अधिकांश को या सब को काम मिल जाय, जिससे वे अपनी शक्ति और समय से लाभ उठासकें। यह बात सर्वथा साध्य और इष्ट है कि देश के जिस भाग में जिस व्यवसाय का विशेष सुभीता हो उस भाग के लोग अच्छी तरह दलबद्ध होकर मुख्यतः उसी व्यवसाय में लगें। उदाहरणार्थ, बंगाल और मध्यप्रदेश के उन ज़िलों को लीजिये जिनमें लोहा, अभ्रक, तांबा तथा अन्य धातुओं की बहुतसी खानें हैं। यदि यहाँ लोग एकत्र होकर खानों से धातुओं को निकालने शोधने आदि का काम करें तो देश को बहुत लाभ हो। ऐसी अवस्था में हमें धातुओं के लिये विदेशों पर निर्भर न रहना पड़े। आजकल करोड़ों

रुपयों की जो धातु विदेशों से आती है वे न मँगाने पड़ें। इसी प्रकार यदि लोग हिमालय के नीचे आसाम से काश्मीर तक जो जङ्गल है उनमें बस कर गाय भैंसों को पालें तो आज कल घी दूध और हल जोतने वाले और दूध देने वाले पशुओं की दुर्लभता के कारण देशवासियों को जो क्लेश पहुँच रहा है वह दूर हो जाय। किन्तु भारतवर्ष इतना बड़ा देश है कि उसके अधिकांश निवासी केवल एक ही व्यवसाय में लग कर लाभ नहीं उठा सकते, चाहे वह व्यवसाय खेती के व्यवसाय के समान भी अत्यन्त महत्त्व का क्यों न हो। वस्तुतः कुछ काल पहले तक अनादिकाल से यहाँ के गाँवों में सब प्रकार का व्यवसाय होता था। वहाँ खेती होती थी, कपड़े बनते थे, मकानों के बनाने वाले भी रहते थे। सारांश यह है कि गाँव के निवासियों को जिन जिन बातों की आवश्यकता होती थी वे सब उसी गाँव में बना करती थीं। मनुष्यों के लिये अन्न ही सब से आवश्यक पदार्थ है। इसलिये गाँव के अधिकांश निवासी खेती ही का काम किया करते थे। उनके और उनके कुटुम्ब के भोजन और कर (टैक्स) के लिये जितना आवश्यक होता था उससे वे अधिक अन्न उत्पन्न कर लेते थे। बचा हुआ अन्न वे उन जातियों के लोगों को देते थे जो उनके लिये कपड़े, घर, बर्तन, हल आदि आवश्यक पदार्थों को बनाते थे। कपड़े बुनने और बर्तन घर आदि बनाने के कामों को, जिनमें कि विशेष कौशल की आवश्यकता होती है, विशेष विशेष जातियों के लोग किया करते थे। उनके कार्य और कौशल परम्परागत होते थे। इसलिये वे अपने अपने कार्यों में विशेष कुशल होते थे। किन्तु

खेती का काम कपड़ा बुनने वाले लुहार बढ़ई आदि भी करते थे। यदि इन्हें अपना परम्परागत काम नहीं मिलता था, तो खेती करने लगते थे।

भारतवासियों में स्वभाव ही से अपनी पुरानी चाल ढाल को बनाये रखने की प्रवृत्ति है। इसलिये शहरों के निवासियों को छोड़ कर लोगों के रहन सहन का ढंग अब भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्राचीन काल में था। रामायण और महाभारत में प्राचीन काल में यहाँ लोगों के रहन सहन के ढङ्ग का जो वर्णन है उसके साथ साथ हम वर्तमान समय के ढङ्ग की तुलना करते हैं तब उनमें आश्चर्यजनक समानता पायी जाती है। किन्तु यद्यपि खेतिहर तथा लुहार बढ़ई आदि अन्य कारीगर और व्यापारी लोग अपने परम्परागत कार्य को बहुत अंश में उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार दो तीन सहस्र वर्ष पहले उनके पूर्वज किया करते थे, तथापि कपड़े के व्यवसाय में बड़ा परिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तन लगभग पिछले सौ वर्षों के भीतर हुआ है। पहले प्रायः प्रत्येक घर में कताई का काम होता था, किन्तु कलों के बने हुए सस्ते सूत और कपड़ों के आने के कारण देश के अधिकांश भागों के लोग कताई का काम भूल गये हैं और कपड़े बुनने वाले लोग वस्तुतः अपने परम्परागत व्यवसाय (पेशे) को छोड़ रहे हैं। कुछ पहले गवर्नमेंट ने मि० ए. सी. चटर्जी आई. सी. एस., को संयुक्तप्रान्त के व्यवसायों की देखभाली के लिये विशेष रूप से नियुक्त किया था। उन्होंने पिछली मनुष्यगणना की रिपोर्ट के अंकों को उद्धृत किया है। उससे ज्ञात पड़ता है कि इन प्रान्तों में सन् १९०१

में कातने वालों की संख्या केवल ८६ सहस्र थी। जिन दिनों प्रायः प्रत्येक घर में प्रतिदिन एक या अधिक चर्खे चलते थे उन दिनों कातने वालों की जितनी संख्या रही होगी उसकी यह संख्या आठवाँ भाग भी न होगी। मनुष्य-गणना के दिनों में जितनी संख्या थी यह अब और भी घट गयी होगी क्योंकि जिन ज़िलों में चर्खों के काम का लोप नहीं हो गया है उन ज़िलों में भी चर्खों का शीघ्रता के साथ लोप हो रहा है। मि० चटर्जी ने अनुमान किया है कि ये ८६ सहस्र कातने वाले वर्ष भर में ५३,७५,००० सेर सूत कातते होंगे। मि० चटर्जी को विदित हुआ है कि इन आन्तों में आधसेर की कताई की औसत मज़दूरी डेढ़ आना होती है। इस हिसाब से ५३,७५,००० सेर सूत को कातने की मज़दूरी दस लाख रुपया होती है। यदि यह मान लिया जाय कि सूत की कलों के प्रचार के पहले इस से केवल आठ गुना सूत काता जाता था तब भी इस बात का अनुमान सहज में हो सकता है कि उन दिनों जो लोग कातने का काम किया करते थे वे कितना धन कमाते होंगे। सूत के व्यवसाय में इतना ह्रास हो जाने के कारण अब कितने लोग उद्यमरहित हो गये होंगे इसका भी अनुमान किया जा सकता है। यह सच है कि अब कई ऐसे काम खुल गये हैं जो कि पहले नहीं थे। बहुत से लोगों को रेलों, सड़कों तथा अन्य कार्यों में काम मिल जाता है किन्तु कातने का काम मुख्यतः पर्दानशीन और गाँवों की स्त्रियाँ किया करती थीं। अब जो रेल, सड़क आदि के काम खुले हैं उनसे उन्हें कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि ये इन कामों को नहीं करतीं।

मनुष्यगणना के अङ्कों से विदित होता है कि ३, २६, ५८६ पुरुष और १, ५४, १८६ स्त्रियाँ हाथ से कपड़े बुनने के काम में लगी हुई हैं। यदि हम प्रत्येक पुरुष को दैनिक मज़दूरी चार आना और प्रत्येक स्त्री को दो आने लगावें, तो इनकी वर्ष भर की कमाई दो करोड़ पचास लाख से अधिक होती है। चटर्जी महाशय ने अनुमान किया है कि इन प्रान्तों में कलों का बना हुआ कपड़ा ३, ७०, ००, ००० सेर काम में आता है। इससे यह स्पष्ट है कि जितना कपड़ा आजकल काम में आता है वह हाथ ही का बुना हुआ हो तो बुनने वालों की संख्या वर्तमान संख्या से तिगुनी हो जाय, और उन लोगों की आय सात करोड़ से अधिक हो जाय। यह सच है कि बहुत से कपड़े बुनने वालों को जिनके यहाँ कपड़ा बुनने का काम परम्परा से चला आता था सूतों के कारखानों में काम मिल गया है। किन्तु जिन लोगों को कपड़ा बुनने का काम छोड़ना पड़ा है, उनकी संख्या के सामने इनकी संख्या कुछ भी नहीं है। क्योंकि मि० चटर्जी को इस बात का पता लगा है कि सन् १९०७-०८ में जो लोग सूत के कारखानों में नौकर थे उनकी संख्या केवल १२, ७६४ की। जिन लोगों को काम न मिलने के कारण अपना परम्परागत व्यवसाय छोड़ना पड़ता है उन में से अधिकांश खेती के काम में लग जाते हैं। इस कारण प्रतिवर्ष खेतिहरों की संख्या बढ़ती जाती है और खेती से जो लाभ होता है वह बराबर घटता जा रहा है क्योंकि इन प्रान्तों में खेती को बढ़ाने के लिये बहुत गुंजाइश नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सौ वर्ष पहले खेती के काम में जितने खेतिहर और मज़दूर थे उनसे अब बहु

अधिक है। इसका यह फल होता है कि जो लोग जीविका के लिये खेती के ऊपर निर्भर रहते हैं उनका बहुत सा समय बेकार जाता है। जो कुछ लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है कि यदि उनका यह बेकार समय बुनने और कातने के काम में लगाया जाय तो वे इतने समय काम कर के वर्ष में पाँच या छः करोड़ रुपया कमा लें। इन प्रान्तों की गवर्नमेंट को मालगुज़ारी के द्वारा जो रुपया मिलता है वह इसी के लगभग है।

यह सच है कि हाथ की कताई का व्यवसाय अब नाश को प्राप्त हुआ दिखलाई दे रहा है किन्तु जैसा मि० चटर्जी ने कहा है, कुछ जातियों में विधवाविवाह की रीति न होने के कारण देश में स्त्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या को कातने ही के व्यवसाय से अपना निर्वाह करना पड़ता है चाहे उनको मज़दूरी कितनी ही कम क्यों न मिले। पंजाब में जहाँ जहाँ दुशाले, पट्टू तथा अन्य ऊनी कपड़े और संयुक्त प्रान्त के उन भागों में जहाँ ऊनी गलीचे और कम्बल अब भी अधिकतर हाथ के कते हुए सूत से बनते हैं वहाँ स्त्रियों को अब भी ऊन कातने का काम मिलता है और इससे उनको लाभ भी होता है। इन प्रान्तों के पश्चिमी भाग के कुछ ज़िलों में तम्बुओं, फ़र्श तथा पहनने के कपड़ों के बनाने के लिये भी मोटा सूत बहुत काता जाता है।

सभ्यता की उन्नत अवस्था में आजीविका के साधनों (पेशा) का विभाग हो जाता है। भिन्न भिन्न जाति और श्रेणी के लोगों की आजीविका के साधन अलग अलग हो जाते हैं। भारतवर्ष में अपनी परम्परागत आजीविका को ग्रहण करने की रीति उचित से अधिक प्रबल

होगा यदि। इसी कारण देश के शिक्षित और बुद्धिमान् लोग शिल्प और व्यवसाय से अलग रहे। किन्तु यदि अब भी शिक्षित नवयुवकों को कातने बुनने आदि लाभदायक कामों में लगाने का उद्योग किया जाय, तो इस बात की पूरी आशा है कि कुछ काल में वे ऐसी विधियों को निकाल लेंगे जिनसे ये काम शीघ्रता और सरलता के साथ होने लगेंगे और उनकी उन्नति होगी। इस देश में कई हिन्दुस्तानी तथा अंगरेज़ लोग हाथ से कातने और बुनने की विधियों और साधनों में सुधार करने के उद्योग में लगे हुए हैं। इस बात का पता सर्कारी गज़ट के उस भाग को देखने से लगता है जिसमें "पेटेंट" सम्बन्धी बातें छपती हैं। इस बात की आशा है कि उनमें से कुछ लोगों के उद्योग सफल हो जायँगे, किन्तु वर्तमान विधियों और साधनों से भी गाँवों में कई व्यवसायों का फिर से उद्धार और प्रचार हो सकता है यदि अशिक्षित गाँव वालों के भरोसे छोड़ने के बदले वे बुद्धिमान् और काम सीखे हुए लोगों के हाथ में दिये जाँय।

गवर्नमेंट कपड़ा बुनने के व्यवसाय की उन्नति के निमित्त इन प्रान्तों में भिन्न भिन्न भागों में बुनने का काम सिखलाने के लिये स्कूल खोल रही है। जो शिक्षित और प्रभावशाली सज्जन देश की समृद्धि को बढ़ाने के लिये गवर्नमेंट से मिल कर काम करने की आकांक्षा रखते हैं यदि वे कातने और बुनने के व्यवसाय के उद्धार के लिये कटिबद्ध हो जाँय, तो देश में समृद्धि का एक नया युग आरम्भ हो जाय। इसके लिये यह आवश्यक है कि वे ज़मींदारों को ऐसे व्यवसायों का प्रचार करने का महत्त्व समझावें जिनके

द्वारा उनके आसामी लोग अपने बहुत से समय को नष्ट करने के बदले उसे लाभदायक काम में लगा सकें। यह लेख जिस स्थान पर लिखा गया है वहाँ मि० चटर्जी की पुस्तक के अतिरिक्त अङ्कों की तथा ऐसी कोई और पुस्तकें नहीं हैं जिनमें से अपने कथनों को पुष्ट करने के लिये प्रमाण दिये जा सकें; किन्तु इस बात को दिखलाने के लिये अङ्कों या सूक्ष्म सूक्ष्म युक्तियों की आवश्यकता नहीं है कि इन प्रान्तों में जो असंख्य लोग अपने बहुत से समय को नष्ट करते हैं उनके लिये यदि साधारण लाभ वाले भी काम खोले जाँय, तो वे उनके द्वारा प्रति वर्ष करोड़ों रुपये कमा लें, न यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि खेती का काम कर चुकने पर जिनका बहुत कुछ समय बच जाता है उनके लिये सब से सुभीते का काम कातना और बुनना है। लोगों को जितना यह काम मिल सकता है उतना और कोई नहीं मिल सकता है। कातने का काम ऐसा है कि उसको करने में कोई आपत्ति (एतराज़) नहीं हो सकती। बुनने का काम कोरी या जुलाहे करते आये हैं। इस कारण बहुत से लोग इस काम को करने में सङ्कोच करेंगे, किन्तु ब्राह्मणों, ठाकुरों, खत्रियों, वैश्यों, और कायथों में बहुत से लोग ऐसे हैं जो कहने सुनने से शीघ्र ही नयी चाल के करघों में काम करने लग जायँगे। ये करघे नयी कलों के समान दिखलाई देते हैं, जुलाहों और कोरियों के करघों से कम मिलते हैं। ऐसे लोगों को करघे चलाते, विशेष कर उन्हें इस काम के द्वारा अपने आप में बहुत कुछ वृद्धि करते हुए देखकर लोग सङ्कोच छोड़, इस काम की ओर झुक जाँयगे।

ला ही नहीं। कोमस की भाँति उनमें से
। यही सिद्धान्त होता है कि जिस युग
ुष्य देखले उसीको गणना पाप की श्रे
है ("It is only day-light that mak
ऐसे लोगों की गिनती हम अनीश्वरवादि
ठीक समझते हैं। वास्तव में ईश्वर के
लोग हैं जिन्हें उसके अस्तित्व में सप्रम
र जिनके कर्म यथासाध्य इस विश्वा
हैं।

यान रहे कि इस निबंध में हम किसी
हारे पर न चलकर केवल नैसर्गिक श्रे
णों द्वारा ही ईश्वर के होने अथवा न होने
ने। किसी भी मत अथवा धर्म विशे
नना अथवा किसी एक पर भी आक्रमण
ष्ट के प्रतिकूल है।

हमारे विचार से ईश्वर का होना ही वि
है और इसकी पुष्टि में जो प्रमाण हमारे
उन्हें हम एक-एक करके नीचे लिखते हैं

(१) संसार में नियमित बातें ही
गोचर होती हैं और नियमविरुद्ध दृ
देखने में नहीं आते हैं। सूर्य, चन्द्र, ओ
मित समय पर निकलना और अस्त होना
दोही आँखें हाथ और पैर होना, गुलाब
न पैदा होना, इत्यादि इत्यादि सब सांस
को सिद्ध करते हैं। कभी कभी कोई
प्रतिकूल भी चाहे देखने में आजाय प

से उसके कारण भी विदित हो सकते हैं। निदान नियमों का पालन संसार में अटल कहा जा सकता है। अब हम पूँछेंगे कि क्या कोई नियम आप ही आप बन सकते हैं? जब नियम हैं तब उनका स्थिर करने वाला भी कोई अवश्य ही होगा। नियमों में कोई चेतनशक्ति नहीं कि वे आप ही आप स्थिर हो गए हों। थोड़ी सी बातें आप ही आप नियत रूप में घुणाक्षर न्याय से हो-जा सकती हैं पर करोड़ों अरबों क्या बरन असंख्य घुनों के द्वारा भी घुणाक्षर न्याय के सहारे तुलसीकृत रामायण नहीं बन सकती। उसके लिये तुलसीदास ही की आवश्यकता होगी। इसी तरह संसार भर में नियमों का होना किसी सचेतन नियम-कर्ता को अस्तित्व का प्रमाण मानना पड़ेगा।

(२) ऐसे ही दुनिया के नैसर्गिक पदार्थों में बुद्धिमत्ता और कारीगरी के प्रायः सभी कहीं अनेक प्रमाण पाए जायँगे। आदमी की आँख ही को ले लीजिए तो उसकी बनावट में असीम चतुरता विदित होगी। किस भाँति से उसमें देखने की शक्ति उत्पन्न की गई है यह विषय बड़ा गहन है पर उसमें उस कारीगर की चतुराई का जितना ही अधिक खोज किया जाय उतने ही उसके प्रमाण पर प्रमाण मिलते चले जाते हैं। प्राकृत पदार्थों अर्थात् फूल पत्तियों, तरह तरह की चिड़ियों इत्यादि में जो कारीगरी पाई जाती है उसका जोड़ खोजना असम्भव सा प्रतीत होता है। क्या इन सब का कोई कर्ता ही न होगा? आप ही आप ये बातें कैसे उपस्थित हो गई होंगी? यह सब बुद्धिमत्ता और कारीगरी के पदार्थ अवश्य ही किसी

है बुद्धिमान् कारीगर के बनाए हुए हैं। यदि कहिये कि
इस बुद्धिमान् कारीगर को ही किसने बनाया तो हम यही
उत्तर देंगे कि एक सचेतन सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को मानने
में इतनी बाधाएँ नहीं हैं कि जितनी अनेक क्यों असंख्य
जड़ पदार्थों के मानने में हैं क्योंकि चैतन्य से जड़ की
उत्पत्ति हो सकती है परन्तु जड़ से चैतन्य की कदापि
सम्भव नहीं। चेतन सब तरह के काम कर सकता है पर
जड़ बिना चेतन के सहारे नहीं कर सकता। चेतन नियमों
को स्थिर कर सकता है पर जड़ नहीं। चेतन बुद्धिमत्ता
और कार्यकुशलता दिखला सकता है जो जड़ से सम्भव
नहीं। इन और ऐसे ही अन्य विचारों से संसार की सृष्टि
का कारण कोई जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। व
अवश्य ही चेतन होगा क्योंकि उत्तम से उत्तम कोई ज
पदार्थ स्वतः नहीं हो सकता।

(३) ईश्वर के न होने अथवा उसके अस्तित्व
सन्देह विषयक जो तर्क वितर्क लोग किया करते हैं उन्ह
ध्यान-पूर्वक विचार करने से उनमें निम्न लिखित भूलों
में से एक न एक अवश्य पाई जायगी :—

(क) यह कि मानो आदमी की समझ ऐसी अपरिमित
है कि वह सभी बातें पूर्ण रीति से जान सकती है। पर
देखने में ऐसा आता है कि छोटी छोटी बातें भी जान लेना
बड़ा कठिन और कभी कभी असम्भव है। मनुष्य कैसे उत्पन्न
होता है, वह क्यों बढ़ता है, बढ़ने में उसकी हड्डी क्यों
नहीं टूट जातीं और खाल क्यों नहीं फट जाती, ए
नियमित समय के उपरान्त अनेक उपाय होने पर भी
क्यों जीवित नहीं रहता, पृथ्वी में आकर्षणशक्ति क्यों

इत्यादि इत्यादि अनेक देखने में बड़े-सीधे-सादे प्रश्न हैं जिनके समुचित उत्तर प्रायः दिए ही नहीं जा सकते। तब ईश्वर की बात को एक दम हस्तामलक कर लेना और उसे सवा सोलह आने जान लेने का दावा भरना कहाँ तक ठीक कहा जा सकता है?

ऐसे आदमियों की उपमा उस बुढ़िया से दी जासकती है कि जो एक छोटे से रेलवेस्टेशन के पास रहती थी और वहाँ दोनों ओर की गाड़ियों के कुसमय पहुँचने पर रेल वालों की विडम्बना किया करती थी कि उन्होंने ट्रेनों के वहाँ समुचित और सुभीते के समय पर पहुँचने का प्रबंध क्यों नहीं किया था! उसकी समझ में रेल वालों को उसी एक स्टेशन का ध्यान होना चाहिए था! वह जानती ही न थी कि सैकड़ों अन्य स्टेशनों व बड़े स्टेशनों पर दूसरी लाइनों की ट्रेनों के आने जाने के समय एवं अन्य अनेक बातों का विचार रख कर तब रेल वालों को अपनी गाड़ियों के आने जाने के समय नियत करने पड़ते हैं।

(ख) यह कि मानो संसार में जो कुछ है वह मनुष्य ही के आराम और तकलीफ़ के विचार से है। स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य के अलावा और भी अनेक प्रकार के जीव ईश्वर ने रचे हैं और इस दुनिया के अतिरिक्त अन्य लोक भी हैं। कदाचित् जो बातें हमें अनुचित प्रतीत होती हैं वे औरों को हितकारी हों।

(ग) यह कि मानो हमारे पूर्व जन्म के कर्मों का कुछ भी असर होना ही न चाहिए अथवा हम जो पाप पुण्य करें उनका फल हमें यहीं अवश्य मिल जाय। कर्म का सिद्धान्त अब बड़े बड़े विज्ञ लोग भी मानने लगे हैं।

इतना लिख कर हम इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं। इसकी गम्भीरता पर निगाह करते हुए यही कहना पड़ता है कि साधारण लोगों को समालोचक की दृष्टि से इस पर विचार करने का साहस ही न करना चाहिये और इतने थोड़े स्थान में इस पर कहाँ तक सफलतापूर्वक कुछ लिखा जा सकता है पर हमारी समझ में ऐसे गहन विषयों पर सूक्ष्म रीति से भी कुछ विचारने और विवेचना करने में हानि नहीं है।

वीर बालक-अभिमन्यु।

[कुंवर हनुमन्तसिंह बि. ए., द्वारा लिखित]

अभिमन्यु अर्जुन का पुत्र था। उसकी माता का नाम सुभद्रा था। यह प्रकृतिसिद्ध नियम है कि माता पिता के उत्तम होने से सन्तान भी उत्तम होती है। अतः जब अर्जुन महाबलवान् पराक्रमी और दिव्य शस्त्रज्ञ योद्धा थे और सुभद्रा भी बड़ी गुणवती थी; तब अभिमन्यु सा योग्य पुत्र होना ही चाहिए था। अभिमन्यु ने महाभारत युद्ध में जैसी वीरता और युद्ध-कुशलता दिखाई थी, वह वीरों को भी आश्चर्य में डालने वाली, युद्धमर्म्मज्ञों को मुग्ध करने वाली, कायरों के शरीरों को कम्पित करने वाली और सामान्य योद्धाओं में तेजस्विता लाने वाली है। नीतिशास्त्र और धर्म्मशास्त्र के ज्ञाता, अभिमन्यु के कार्यों को देख कर, कह सकते हैं कि अभिमन्यु सा पुत्र जिसके हो; वह धन्य है। जिस सोलह वर्ष के तरुणावस्था वाले बालक ने अपने पिता और परिवार के हितार्थ कर्त्तव्यपालन करते करते अपने जीवन का अन्त किया, वह सहस्र बार धन्य है।

बालक अभिमन्यु का जीवन-चरित्र
हुआ भारत के घर घर में रहना चाहि
युवकों को उसके अध्ययन और म
अनुरोध करना चाहिए। अभिमन्यु के
पूर्ण ज्ञान तो महाभारत के पाठ करने ही
है, तथापि कुछ गुणगान करने से हम भ
पवित्र करना उचित समझते हैं। पहल
क्षत्रियोचित गुणों पर दृष्टि डालते हैं। बा
अभिमन्यु ने बाणविद्या में ऐसी निपुणत
कि जब रणभूमि में इस विद्या के विकाश
सर आया, तब उसने अपने पिता अर्जुन
अपने को धनुर्धारी और पराक्रमी सिद्ध
भारत युद्ध आरम्भ होने पर तेजस्वी अभिम
वाले घोड़ों के रथ पर चढ़ कर, दुर्योधन की से
प्रकार अपने बाणों को बर्षाने लगा था, जै
आकाश से पानी की वर्षा करता है। जैसे वायु
को चारों ओर उड़ा देता है, वैसे ही वह दुर्योधन
को तितर बितर करने लगा था। सञ्जय ने धृत
रणभूमि का संवाद सुनाते हुए कहा था—"जै
काल-प्रेरित होकर जलती हुई अग्नि को नहीं सह
वैसे ही तुम्हारी सब सेना अभिमन्यु के बाणों को
सकी। जैसे मतवाला हाथी कमलों से युक्त सरो
रौंद कर, कमलों को तोड़ डालता है, वैसे ही
तुम्हारी सेना को अपने

युद्ध हो रहा था, अलम्बुस नामक एक वीर राक्षस ने अपने साइन्स (विज्ञान) के प्रभाव से तामसी माया उत्पन्न की। सारी रणभूमि में अन्धकार ही अन्धकार छा गया। उस समय कोई भी एक दूसरे को न देख सकता था। कुरुनन्दन अभिमन्यु ने उस अन्धकार को देख कर भास्कर अस्त्र चलाया और उसकी माया का नाश किया। पश्चात् अभिमन्यु ने उसे बाणों से छिपा दिया। अलम्बुस ने उसी प्रकार से दूसरी अनेक भाँति की माया उत्पन्न की; परन्तु सब दिव्यास्त्रों के जानने वाले अभिमन्यु ने अपने दिव्यास्त्रों से उसकी सब माया का निवारण किया। जब उस राक्षस की सब माया नष्ट हुई, तब वह अभिमन्यु के बाणों से पीड़ित होकर, उसी स्थान पर अपने रथ को छोड़ कर रणभूमि से भाग गया।

रणभूमि में धीरता धारण कर, वीरता से शत्रुसेना के संहार करने में तो इस बालक ने कई स्थलों पर बड़ा ही चमत्कार दिखाया था। एक दिन युद्धक्षेत्र में अभिमन्यु खड्गयुद्ध कर रहा था कि एकाएक अति पराक्रमी योद्धा जयद्रथ ने अभिमन्यु पर कृपाणाघात करना चाहा; परन्तु अभिमन्यु ने ढाल पर खड्गप्रहार को रोक कर आत्मरक्षा की। इस प्रकार जयद्रथ का वार खाली गया और तलवार टूट गई। जयद्रथ रथ पर चढ़ कर, अभिमन्यु से युद्ध करने लगे। अभिमन्यु भी रथ पर चढ़ कर, जयद्रथ से युद्ध करने में प्रवृत्त हुआ। इसी समय कौरव दल के बड़े बड़े योद्धाओं ने भी रथ पर चढ़े हुए अभिमन्यु को चारों ओर से घेर लिया। इस पर भी अभिमन्यु विचलित नहीं हुए। जैसे प्रचण्ड सूर्य सम्पूर्ण प्राणियों को तपा कर भस्म

करता है वैसे ही शत्रुनाशक वीर अभिमन्यु जयद्रथ
पराजित करके उनकी सम्पूर्ण सेना का अपने बाणों
विध्वंस करने लगा। इस पर क्रोधित हो महापरा
शल्य ने अभिमन्यु की ओर एक लोहमयी शक्ति (सा
चलायी। जैसे गरुड़ सर्पों को ग्रहण करता है, वैसे ही अभि
मन्यु ने उस महाभयङ्कर शक्ति को हाथ से ग्रहण क
लिया। इस पराक्रम को देख पाण्डवपक्ष के योद्धागण
अभिमन्यु की जय जयकार करते हुए सिंहनाद करने लगे।

महाभारत युद्ध में बारह दिन तक बड़े बड़े यत्न करके
भी जब कौरव पाण्डवों पर जय प्राप्त न कर सके और
उनके अनेक शूरवीर भूशायी हुए; तब दुर्योधन तेरहवें
दिन अत्यन्त दुःखित होकर, क्रोध में भर द्रोणाचार्य से
कहने लगा कि—"तुम यदि चाहते, तो मैं शत्रुओं पर कभी
का जय पा जाता। तुम्हारे सामने आकर कोई भी न
बच सकता। तुमने युधिष्ठिर को अपने समीप आ जा
पर भी नहीं पकड़ा। श्रेष्ठ पुरुष किसी प्रकार से भी अप
भक्तों की प्रार्थना अपूर्ण नहीं करते। तुमने प्रीतिपूर्वक हमें
वर दिया है। फिर न जाने तुम क्यों विरुद्ध आचरण
करते हो?—"

द्रोणाचार्य बोले—"तुम मुझसे ऐसा न कहो। मैं सदैव
म्हारे जय की कामना करता हूँ। अर्जुन जिनकी रक्षा
रता है उन्हें कौन जीतने में समर्थ है? ईश्वर के सिवाय
न उन पर जय प्राप्त कर सकता है? हे तात! तो भी
ज मैं प्रचण्ड युद्ध करूँगा। हो सका तो मैं उन लोगों के
प्रधान महारथी का वध करूँगा। हे राजन्! मैं आज
व्यूह की रचना करूँगा कि देवताओं को भी उस व्यूह

को भेदन करने की सामर्थ्य नहीं है, परन्तु एक बात है, आप लोग किसी उपाय से अर्जुन को उन लोगों के समीप से हटा कर, अन्य स्थान में ले जाना। क्योंकि अर्जुन से युद्ध का कोई कार्य भी असाध्य व अज्ञात नहीं है। वह दिव्य और समस्त मानुषिक अस्त्र शस्त्रों की विद्या को भली भाँति जानता है।"

तेरहवें दिन युद्ध होने लगा। सप्तसामन्तक योद्धाओं ने दक्षिण ओर अर्जुन को पुनर्वार युद्ध के निमित्त आह्वान किया। अर्जुन सप्तसामन्तक वीरों की ओर चले गये और उनके सङ्ग अर्जुन का घोर युद्ध होने लगा। इधर द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना की। पाण्डवसेना के स्वामी युधिष्ठिर भी अपने दलबल सहित द्रोणाचार्य के सम्मुख आ डटे। अभिमन्यु भी पाण्डवसेना की शोभा को बढ़ा रहे थे। परन्तु युधिष्ठिर को कौरव दल में चक्रव्यूह की रचना देख कर बड़ी चिन्ता हुई। क्योंकि पाण्डव दल में चक्रव्यूह युद्ध के पूर्ण ज्ञाता अर्जुन ही थे। सो वे दूर सप्तसामन्तकों से लड़ रहे थे। अभिमन्यु ने महाराज युधिष्ठिर को विशेष चिन्ताग्रस्त और दुःखित देख कर कहा—"मैं चक्रव्यूह में प्रवेश करना जानता हूँ; परन्तु निकलने की क्रिया पिताजी ने मुझे नहीं सिखाई।"

इस पर भीम आदि महाबली और पराक्रमी योद्धाओं ने कहा कि हम तुम्हारे पृष्ठरक्षक रहेंगे और बराबर तुम्हारे साथ चलेंगे।

निदान पराक्रमी बालक अभिमन्यु दुर्गम चक्रव्यूह में प्रवेश करने के लिये और द्रोणाचार्य से युद्ध करने को उद्यत होगया और वीर जैसे आवेश से अपने सारथी को

आज्ञा दी कि मेरा रथ द्रोणाचार्य के सम्मुख ले चलो।

सारथी ने हाथ जोड़ कर विनय की-" कुमार! आप की किशोरावस्था है, आप विचार कर ऐसे भीषण कार्य में तत्पर हों।"

अभिमन्यु ने वीरोचित दर्प के साथ कहा-" मुझे न तो द्रोणाचार्य और न सम्पूर्ण कौरव दल से भय है। मैं देवताओं सहित ऐरावतारूढ़ इन्द्र से भी युद्ध करने को उद्यत हूँ।"

युधिष्ठिर ने अभिमन्यु में चक्रव्यूह में प्रवेश करने की शक्ति देखकर कहा-" हे अभिमन्यु! हम लोग नहीं जानते कि चक्रव्यूह का किस प्रकार से भेदन किया जाता है। तुम ऐसा उपाय करो कि अर्जुन आकर हम लोगों की निन्दा न करे। अर्जुन, कृष्ण, प्रद्युम्न और तुम चार के अतिरिक्त और कोई भी चक्रव्यूह के भेदने को समर्थ नहीं है।"

" अभिमन्यु! तुम पितृकुल, मातृकुल और इन सम्पूर्ण योद्धाओं की मनस्कामना को पूर्ण करो। तुम शीघ्र ही अस्त्रग्रहण करके द्रोणाचार्य्य की सेना का नाश करो। ऐसा करने ही से अर्जुन सप्तसामन्तक योद्धाओं के युद्ध से लौट कर, हम लोगों की निन्दा न कर सकेंगे।"

अभिमन्यु बोले-" मैं युद्धभूमि में आपकी विजय के लिये द्रोणाचार्य्य की सेना का महाप्रचण्ड और दृढ़ चक्रव्यूह भेद करूँगा। परन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा है, पिता ने मुझे केवल उसे भेदन करने ही की युक्ति सिखाई है, उस व्यूह से बाहर होने की शिक्षा नहीं दी। इसलिये यदि यहाँ पर कोई जोखिम आजावे, तो मैं उस व्यूह के भीतर से निकल नहीं सकूँगा।"

चक्रव्यूह से बाहर निकलने की शिक्षा की कमी के कारण ही हमारे अद्वितीय वीर बालक अभिमन्यु का अन्त शरीरान्त हुआ।

राजा युधिष्ठिर ने कहा-" हे तात! तुम योद्धाओं में श्रेष्ठ हो, तुम शत्रुपक्ष की सेना में हम लोगों के प्रवेश करने का मार्ग बना दो। तुम जिस मार्ग से गमन करोगे हम लोग भी उस ही मार्ग से तुम्हारे पीछे पीछे गमन करेंगे। हे पुत्र! तुम युद्ध में अर्जुन के समान हो इसलिये हम लोग तुम्हारे अनुगामी बन कर तुम्हारी रक्षा करते हुए शत्रु सेना के वीरों से युद्ध करेंगे।"

इस बात को सुन कर, उत्साह सहित अभिमन्यु ने अपने सारथी को आज्ञा दी-" रथ को आगे बढ़ाओ।" बालक अभिमन्यु को प्रचण्ड युद्धभार अपने ऊपर लेते हुए किञ्चित् भी असमञ्जस न हुआ। उस समय वीर बालक अभिमन्यु ऐसे परिलक्षित होते थे जैसे कि सिंह का किशोर अवस्था का बच्चा हाथियों के झुण्ड पर आक्रमण करने को उद्यत हो। सुवर्णभूषित कवच और सुन्दर ध्वजा से युक्त वीर अभिमन्यु द्रोणाचार्य आदि महारथी वीरों पर आक्रमण करने में प्रवृत्त हुए। कौरवदल के योद्धा भी अभिमन्यु को चक्रव्यूह में प्रवेश करते देख वीरोचित आवेश से युद्ध करने लगे। पाण्डव लोग अभिमन्यु की रक्षा करते हुए पीछे पीछे गमन करने लगे। अभिमन्यु के द्रोणाचार्य्य की सेना में प्रवेश करते समय महाभयङ्कर तुमुल युद्ध हुआ। इस ही समय अभिमन्यु ने द्रोणाचार्य्य के सम्मुख ही व्यूह भेदन कर शत्रु-सेना में प्रवेश किया। अभिमन्यु के लिये यह समय घोर सङ्कट

का था। चारों ओर से शत्रु उनको मारने के लिये घेर रहे थे; तथापि अभिमन्यु अविचल भाव से युद्ध करने में तत्पर थे। इस समय अभिमन्यु ने अपूर्व वीरता दिखाई। अपने बाणों से शत्रुओं को व्याकुल कर दिया। कौरव तथा उनके पराक्रमी योद्धा पाण्डवों के जीतने में उत्साहहीन हो गये और चकित हो कर दशों दिशाओं को देखने लगे। उन सब की हिम्मत टूट गयी और अपने अपने प्राण बचा कर भागने लगे।

राजा दुर्योधन सुभद्रापुत्र अभिमन्यु के सम्मुख से अपनी सेना को भागती हुई देख कर, रथ पर चढ़ कर अभिमन्यु की ओर दौड़े। अनन्तर द्रोणाचार्य दुर्योधन को अभिमन्यु के सम्मुख जाते देख कर, सम्पूर्ण राजाओं से बोले- "जाओ अभिमन्यु से लड़ते हुए राजा दुर्योधन की रक्षा करो।" इस पर कौरव दल के बड़े बड़े बलवान् योद्धा अभिमन्यु के सम्मुख आखड़े हुए। द्रोणाचार्य्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य्य, कर्ण, कृतवर्म्मा, शकुनि, बृहद्बल, महाराज शल्य भूरिश्रवा, पौरव और वृषसेन आदि पराक्रमी योद्धा लोग अपने तीक्ष्ण बाणों की वर्षा कर के अभिमन्यु को बाणों से तोपने लगे। परन्तु तो भी अभिमन्यु वीरोचित उत्साह के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त रहा। पश्चात् सम्पूर्ण महारथियों ने चारों ओर से रथों के समूह से अभिमन्यु को घेर कर उनके ऊपर नाना भाँति के बाणों की वर्षा की; परन्तु अकेले अभिमन्यु ने अपने पराक्रम से कौरव दल के महारथियों को आगे नहीं बढ़ने दिया। अभिमन्यु ने ऐसे पराक्रम का प्रकाश किया कि एक बार फिर भी कौरव सेना को पीछे हटा दिया।

कर्ण, अश्वत्थामा, कृतवर्म्मा बराबर अभिमन्यु को घेरे हुए बाण चला रहे थे, परन्तु अभिमन्यु बाणों से विद्ध हो कर भी तिल भर भी विचलित नहीं हुआ। किन्तु वह क्रुद्ध हो कर प्राणघाती यमराज के समान सम्पूर्ण सेना के बीच घूमता हुआ दिखाई देता था। शल्य भी उस महापराक्रमी वीर अभिमन्यु के मर्म्मभेदी बाणों से पीड़ित होकर, रथ-दण्ड पकड़ कर और मूर्च्छित हो कर बैठ गये। शल्य की यह दशा देख कर योद्धा लोग रणभूमि से ऐसे भागने लगे जैसे सिंह से पीड़ित होकर मृगों का झुण्ड भागता है।

अभिमन्यु ने दुःशासन को अत्यन्त क्रोधपूर्वक अपनी ओर आते हुए देख कर, बाणवर्षा से उसे विकल कर दिया। क्रोधी दुःशासन मतवाले हाथी के समान इस रण-भूमि में अभिमन्यु के साथ युद्ध करने लगा। अभिमन्यु हँसते हुए दुःशासन से बोला—"चचा! तुम मानी, क्रोधी, निष्ठुर और धर्मत्यागी हो। तुमने ही महाराज धृतराष्ट्र के सम्मुख धर्म्मराज युधिष्ठिर को अनुचित बातें कह कर कुपित किया था। तुम उस सम्पूर्ण अधर्म्म का प्रतिफल अभी पाओगे। आज मैं रणभूमि में कृष्ण और अर्जुन के क्रोध को शान्त करके और उनकी अभिलाषा पूर्ण करके उऋण होऊंगा। आज मैं इस युद्ध में भीमसेन के भी ऋण से मुक्त होऊंगा। यदि तुम यहाँ से प्राण लेकर न भाग जाओगे तो याद रखो जीते न रहोगे।" यह अभिमन्यु का बालभाषण न था किन्तु उसने प्राकृत वीरभाव से ऐसा कहा था। इस समय ऐसा युद्ध हुआ कि कितने ही शूरवीर योद्धा अभिमन्यु के तीक्ष्ण अस्त्रों से क्षत विक्षत शरीर हो कर, अपने जीवन की रक्षा के निमित्त ऐसे व्याकुल हुए

कि घबड़ाहट में अपनी ओर के योद्धाओं ही का वध करते हुए अभिमन्यु के पास से भागने लगे। अन्त में दुर्योधन भी अभिमन्यु के बाणों से विद्ध हो कर युद्ध-भूमि से विमुख हुआ।

कौरव दल के अनेक योद्धा पाण्डव दल के जीतने से निराश होकर, अपने मरे हुए भाई बन्धुओं को रणभूमि में छोड़ कर भाग चले। उनको भागते देख कर द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य, अश्वत्थामा, कर्ण, बृहद्बल, दुर्योधन, कृतवर्म्मा और शकुनि अत्यन्त क्रुद्ध हो कर अभिमन्यु के सम्मुख आ युद्ध करने लगे। परन्तु धन्य है अभिमन्यु को कि इतने महारथियों के सामने युद्ध-भूमि में वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ वह डटा ही रहा। अपने युद्ध-कौशल और हस्तलाघव के कारण अभिमन्यु ने ऐसी बाणवर्षा की कि फिर सबको हताश कर दिया। दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण अपने बालस्वभाव और अभिमान के कारण अभिमन्यु से भिड़ गया: परन्तु अभिमन्यु ने उसकी कम अवस्था का विचार कर कहा-" जाओ भाई, जाओ " परन्तु जब वह न माना और दर्प की बात कह युद्ध करने लगा, तब अन्त में अभिमन्यु ने यह कह कर " तुम इस समय इस सम्पूर्ण लोक को भली भाँति देख लो, तुम अभी यमपुरी जाते हो " एक बाण ऐसा चलाया कि शस्त्रविद्याविद् अभिमानी लक्ष्मण का सिर कट कर गिर पड़ा। नववयस्क लक्ष्मण को मरा हुआ देख कर, सब लोग हाहाकार करने लगे। इस समय दुर्योधन ने प्यारे पुत्र लक्ष्मण के लिये बड़ा विलाप और शोक सन्ताप किया।

इस अवसर पर दुर्योधन को पुत्र-वियोग के दुःख से

अत्यन्त दुःखित देखकर, द्रोणाचार्य्य, अश्वत्थामा, बृहद्बल, कर्ण और कृतवर्म्मा इन छः महारथियों ने अभिमन्यु को चारों ओर से घेर लिया। इस समय अभिमन्यु ने ऐसा घोर युद्ध किया कि शत्रुपक्ष भी विना प्रशंसा किये न रह सका। कौरव दल के प्रधान नायक उच्चस्वर से वीर बालक अभिमन्यु की प्रशंसा करते हुए लड़ने लगे। द्रोणाचार्य्य अपने शिष्यपुत्र अभिमन्यु की असाधारण रण-दक्षता देख कर वाह वाह कहने लगे। द्रोणाचार्य्य की प्रशंसा से बढ़ कर प्रशंसा अभिमन्यु के अनुपमेय युद्ध-कौशल की और क्या हो सकती है?

अभिमन्यु के बाण से, पराक्रमी क्राथपुत्र मारा गया। अभिमन्यु ने व्यूह के भीतर प्रवेश करके अपने प्रचण्ड बाणों से सम्पूर्ण योद्धाओं को घबड़ा दिया: अश्वत्थामा को बाणों से घायल करके उसने कर्णि अस्त्र से कर्ण का कान छेद डाला, कृपाचार्य के रथ के घोड़ों के पृष्ठरक्षक और सारथी को मार कर, दश बाणों से उनके हृदय में प्रहार किया। ऐसी अनेक युद्धलीला करके अब अभिमन्यु ने छओं महारथियों की ओर क्रोधयुक्त दृष्टिपात किया। बात की बात में शत्रुञ्जय, चन्द्रकान्त, महामेधा, सुवर्च और सूर्य्य जैसे योद्धाओं का वध करके, उसने अपने बाणों से शकुनि को विद्ध किया।

कर्ण अभिमन्यु की बाणवर्षा से घबड़ा कर कहने लगा- "मैं अब रणभूमि में ठहर नहीं सकता, परन्तु रणभूमि से भागना अनुचित कार्य है; इसीलिये मैं डटा हुआ हूँ।" द्रोणाचार्य्य बोले-"कर्ण घबड़ाओ मत। इसमें सन्देह नहीं कि यह बालक बड़ा पराक्रमी है, यदि तुम लोग अपने-

बाणों से इस वीर बालक के धनुष का सेदाकाट कर घोड़े, सारथी और पृष्ठरक्षक वीरों का वध कर सको, तो बहुत अच्छा हो। फिर इसे रथरहित करके इस पर प्रहार करना ठीक होगा। जब तक अभिमन्यु के हाथ में धनुष है, तब तक कोई देवता व राक्षस इसका वध न कर सकेगा।"

द्रोणाचार्य्य के इन शब्दों से कर्ण का उत्साह बढ़ गया। अभिमन्यु एक साथ छः महारथियों से युद्ध करते करते थकसा गया था, तो भी अद्भुत युद्धकौशल विकाश करने लगा। कर्ण ने अभिमन्यु के धनुष को अपने बाण से काट गिराया। घोर युद्ध होने पर भोज ने अभिमन्यु के रथ के चारों घोड़े कृपाचार्य्य ने उसके पृष्ठरक्षक योद्धाओं और सारथी का वध किया। फिर तो कायरों में भी सम्मुख युद्ध करने की हिम्मत आगयी। छः महारथी युद्ध-नियम-विरुद्ध, अस्त्रशस्त्ररहित अभिमन्यु पर बाण-वर्षा कर रहे थे। परन्तु धन्य है अभिमन्यु को कि इन सब बातों के होते हुए भी, रणभूमि से भागने या पीछे हटने का विचार तक भी उसके मन में न आया। वह सिंह के समान अब भी गरजता और अपनी सामर्थ्यानुसार पराक्रम प्रकाश कर रहा था। ऐसाही समय सच्चे क्षत्रिय को वीरत्व दिखाने का हुआ करता है। यही वीरता की परीक्षा का समय है। जो क्षत्रिय अनेक दुःख प्राप्त होने पर भी, अनेक कष्ट झेलने पर भी उत्साहहीन नहीं होते और कष्ट के समय में अपने कर्त्तव्य में दृढ़ रहते हैं वे ही प्राकृत वीर कहे जाते हैं।

धनुष टूटने पर और रथविहीन होने पर, अभिमन्यु ढाल तलवार लेकर, रणभूमि में वीरभाव से फिरने लगे।

कौरवदल के योद्धा लोग कहने लगे-"देखो ! देखो ! तलवार लिये हुए अभिमन्यु हमारी ओर आ रहा है।" इस पर शीघ्र बाण-वृष्टि करो। निदान बाण की वर्षा करके वे अभिमन्यु के शरीर को बाणों से विद्ध करने लगे। इतने ही में द्रोणाचार्य्य ने क्षुरबाण से अभिमन्यु के हाथ की तलवार को काट डाला। कर्ण की वीरता इस समय बहुत कुछ बढ़ चली थी, उसने कई बाण चला कर, अभिमन्यु की उत्तम ढाल काट दी। इस समय अभिमन्यु की शोभा दर्शनीय थी। सम्पूर्ण शरीर बाणों से परिपूरित था, हाथ में न कोई अस्त्र था न शस्त्र था, परन्तु अभिमन्यु का अदम्य रण-उत्साह किञ्चित् कम न हुआ था। अभिमन्यु क्रोधयुक्त हो कर, चक्र ग्रहण कर द्रोणाचार्य्य की ओर दौड़ा। उस समय उसके दृढ़ कवच के भीतर से रुधिर झर रहा था। परन्तु अभिमन्यु की मुखाकृति पर पूर्ववत् तेज वर्त्तमान था। क्षत्रियोचित दृढ़ता और साहस के कारण उसके हृदय में कुछ भी व्याकुलता न थी। ऐसे ही वीर बालक क्षत्रिय जाति के गौरव स्वरूप हुए हैं।

शकुनि दुर्योधन से कहने लगे-" हे राजन् ! शीघ्र ही सब योद्धा मिल कर अभिमन्यु का सामना करो, नहीं तो यह एक एक करके सब का नाश कर देगा।" सूर्य्यपुत्र कर्ण द्रोणाचार्य्य से बोले-" यह पहले ही हम सब लोगों का वध किया चाहता है, इसलिये आप शीघ्र ही इसके मारने का उपाय कीजिये।" द्रोणाचार्य्य सब महारथियों से बोले-"क्या तुममें ऐसा भी कोई है कि जिसने अभिमन्यु को थोड़ी देर विराम लेते भी देखा हो ! यह अपने पिता के समान रणभूमि में चहुँ ओर भ्रमण करता हुआ युद्ध कर रहा

है। देखो यह कैसी चतुरता के स
यह कुमार इतनी शीघ्रता के साथ ब
कर चलाता है कि इसके रथ के ऊ
इसका धनुष ही दीख पड़ता है। य
पुत्र वीर अभिमन्यु बार बार बाणों
लोगों को पीड़ित और मोहित कर रह
ो मैं इसका अपूर्व युद्धकार्य्य देख कर
णभूमि में इसको शीघ्रतापूर्वक चारों
ख कर, मुझे अत्यन्त ही आश्चर्य हो
द्धा इसका तनिक छिद्र नहीं पा
शल में अर्जुन से किसी प्रकार कम
भिमन्यु के अनुपम योद्धा होने की इ
प्रशंसा हो सकती है? जो बाल्याव
, पराक्रमी और युद्धकुशल था वह
स्था में अद्वितीय योद्धा होता।
भिमन्यु ने भयङ्कर गदा ग्रहण की
की ओर दौड़ा। अश्वत्थामा पीछे ह
दा ने अश्वत्थामा के रथ के घोड़े औ
का संहार किया। अभिमन्यु ने मत्त
ज के दामाद कालिकेय और उन
देशीय योद्धाओं का वध किया।
घोड़ों को भी चूर्ण कर दिया। दुःश
ड़ा क्रोध आया। "खड़ा रह, खड़ा र
मन्यु की ओर दौड़ा। दोनों अपना

होकर इन्द्रध्वजी की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़े। थोड़ी देर बाद दुःशासन-पुत्र सचेत हुआ और उठ कर खड़ा हुआ। अभिमन्यु उठते जाते थे कि इसी समय दुःशासन-पुत्र ने उसके सिर पर गदा का प्रहार किया। दीर्घकालीन युद्ध से क्लान्त और क्षतशरीर अभिमन्यु के सिर पर यह प्रहार प्राणघातक हुआ। सिर पर गदा लगने से वह चेतना-रहित हो कर भूतलशायी हुआ।

भरत।

भरत, अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र और श्रीरामचन्द्रजी के छोटे भाई थे। भरत के विषय में एक बार महाराज दशरथ ने अपनी महिषी कैकेयी से कहा था—"मैं उसे (भरत को) धर्मतः रामचन्द्र से भी बढ़ कर बलवान् मानता हूँ[1]।" दशरथ भरत के चरित्र को भली भाँति जानते थे तो भी रामचन्द्रजी के वन में चले जाने पर; उन्होंने उन्हें त्याज्यपुत्र और अपने और्द्धदैहिक कृत्य के लिये अयोग्य कह दिया! रामायण जैसे लोकोत्तर महाकाव्य के एकमात्र निर्दोष एवं आदर्शचरित्र भरत के भाग्य में कैसी विडम्बना हुई-इसका विचार करने से हमें बहुत दुःख होता है। निर्दोष होने पर भी उनके पिता ने उनका त्याग किया-यहाँ तक कि उनको बुलाने के लिये जो दूत केकय राज्य में भेजे गये थे, उन्होंने भी अयोध्या के कुशलसम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में कटाक्ष के साथ कहा था—"आप जिनकी कुशल चाहते हैं उनकी कुशल है।[2]" अर्थात् भरत मानो दशरथ राम,

---

१ रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।

२ कुशलस्ते महाबाहो येषां कुशलमिच्छसि।

लक्ष्मण आदि की कुशल नहीं चाहते। वे केवल कैकेयी और मन्थरा ही की कुशल चाहते हैं। या तो यह बात दूतों ने मिथ्या कही या यह उनका निष्ठुर व्यङ्ग वाक्य था। इसके सिवाय दूतों के इस वाक्य का और कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। राम-वनवास के उपलक्ष में अयोध्या में जो वाग्-वितण्डा हुआ था, उसमें भी एक दो बार इस निर्दोष राजकुमार पर अन्यायपूर्वक कटाक्ष किये गये थे। रामचन्द्रजी के वनवास के समय, अयोध्या की प्रजा ने कहा था-" हम भरत के निकट उसी तरह बँध गये, जिस तरह पशुहिंसक के पास[1]।" इतना ही नहीं, बल्कि इस साधु व्यक्ति को अपने विशेष स्वजनों से भी लाञ्छित होना पड़ा था। जो रामचन्द्र भरत को अपने "प्राणों से भी बढ़ कर[2]" प्रिय समझते थे, और कौशल्या से कहा था-" धर्मप्राण भरत की बात मन में विचार कर, तुमको अयोध्या में रख कर जाने में मुझे किसी तरह की चिन्ता नहीं है-" देखिये, उन्हीं राम से यह न हुआ कि महात्मा भरत पर सन्देह के एक दो बाण न छोड़ते। सीताजी को समझाते हुए राम ने कहा था-" तुम भरत के आगे मेरी प्रशंसा मत करना। समृद्धिवाले लोगों को दूसरों की प्रशंसा अच्छी नहीं लगती।" इस सन्देह का समाधान नहीं है।

पिता दशरथ ने रामाभिषेक के उद्योग के समय भरत को सन्देह की आँखों से देखा था। रामचन्द्र को बुलाकर उन्होंने कहा था-"मेरी यह इच्छा है कि भरत के ननिहाल में

---

१ भरते सन्निबद्धाः स्म सौनिके पशवो यथा।

२ " मम प्राणैः प्रियतरः।"

रहते रहते ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय। क्योंकि
भरत धार्मिक और तुम्हारा अनुगत है तो भी म
मन बिगड़ते देर ही कितनी लगती है ? यद्यपि इ
की सनातन प्रथा के अनुसार सिंहासन बड़े भा
मिल सकता था; तथापि धर्मधुरन्धर भरत के ऊ
सन्देह करना घोर अन्याय था। रामचन्द्र ने भरत
का इतना महत्त्व समझा तो भी वनवास के अन
भरद्वाजाश्रम से हनुमान् को वे भेजने लगे तब
कह कर भेजा-"हमारे आने का संवाद सुन
के चेहरे का कुछ रंग बदला कि नहीं-यह अच्छी
देखना।" यह सन्देह भी बिल्कुल अमार्जनीय है
में निरपराधियों को अनेक बार दण्ड मिला है, कि
जैसे आदर्श धार्मिक के प्रति इस प्रकार के दण्ड
इतिहास में विरले ही हैं। लक्ष्मण ने जिस भर
बारम्बार यह कहा था-"हे राम ! भरत के म
कुछ भी दोष नहीं समझता[1]।" उसी भरत ने अ
से लक्ष्मण के विषय में कहा था-"लक्ष्मण
रामचन्द्र के कमल लोचन वाले चन्द्रोपम निर्म
देखता है।[2]" राजाधिराजा महाराज दशर
के लोगों के मन बिगड़ने का अवश्य ही कुछ

---

१ भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव।

२ सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युतिम्

और भी

यह धन्य लक्ष्मण बड़भागी।
राम पदारविन्द अनुरागी॥

सकता है; क्योंकि वे लोग सोच सकते थे कि इतना बड़ा षड्यंत्र रचा गया-क्या इसमें भरत का कुछ भी हाथ न था? अपने मामा युधाजित के साथ परामर्श कर, भरत ही ने दूर से डोर हिला कर कैकेयी नहीं नचायी-इसमें क्या प्रमाण था? भरत को स्वयं इसकी आशङ्का हुई थी और इसी आशङ्का के निराकरण के लिये, उन्होंने विसंज्ञ अवस्था में कैकेयी से कहा था-"जब अयोध्या के लोग रुद्धकण्ठ हो, नेत्र भर कर मेरी ओर देखेंगे; तब मैं उसे सहन न कर सकूँगा।"

कौशल्या भरत को बुला कर कटुवाक्य कहने लगीं। घाव में सुई चुभोने से जैसा कष्ट होता है, कौशल्या के तीव्र वचनों ने भरत के हृदय में वैसी ही वेदना उत्पन्न की। घटनाचक्र में पड़ कर वह देवतुल्य चरित्र संसार के सब लोगों के सन्देह का पात्र होकर लाञ्छित हुआ था। जब भरत बड़ी सेना के सहित रामचन्द्रजी को लौटाने के लिये अग्रसर हुए, तब निषादाधिपति गुहक ने इन्हें उनकी अनिष्ट कामना से पीछे दौड़ने वाला शत्रु समझा और वह हाथ में लठ लेकर तथा मार्ग रोक कर डट गया था। भरत की लाञ्छना की यहीं इतिश्री नहीं हुई; किन्तु भरद्वाज जैसे त्रिकालदर्शी तपोधन महर्षि ने भी इन्हें सन्देह की दृष्टि से देख कर पूछा था-"आप उस निष्पाप राजपुत्र के पीछे किसी बुरे अभिप्राय से तो नहीं जाते?" प्रत्येक पुरुष का समाधान करते करते भरत के प्राण होठों पर आ गये थे। भरत ने कैकेयी को "मातारूप में शत्रु"[1] कह कर पुकारा था। वास्तव में कैकेयी माता के रूप में भरत की

१ "मातृरूपे ममामित्रे"

महाशत्रु हो गयी थी। विश्व भर में यह जो सन्देहवाणों की वर्षा भरत पर हो रही थी, इसका मूल कैकेयी ही थी।

किन्तु घटनावली चाहे कितनी जटिल क्यों न हो, मनस्वी भरत के अपूर्व भ्रातृस्नेह ने अन्त को समस्त जटिलता दूर कर दी थी। रामचन्द्रजी को हमने अनेक अवस्थाओं में वनवास में सुखी होते देखा है। उदाहरण के लिये चित्रकूट-वास ही के समय को ले लीजिये। फुलवारी के समान चित्रकूट की तराई को दिखा कर रामचन्द्र जी ने सीताजी से कहा था—"इस स्थान में तुम्हारे साथ विचरण कर, मैं अयोध्या के राजसिंहासन को तुच्छ समझता हूँ।" इसी प्रकार और भी उदाहरण हैं। तात्पर्य यह कि राम का आकाश कभी मेघाच्छन्न और कभी स्वच्छ निर्मल दीख पड़ता है, किन्तु भरत का चिरविषण्ण चित्र मर्मान्तक करुणा से भरा हुआ है। यहाँ तक कि भरत जब राम को लौटाने गये तब भरत की जटिल, कृश, विवर्ण मूर्त्ति देख कर, रामचन्द्र चौंक पड़े थे और बड़ी कठिनता से उन्होंने भरत को पहिचान पाया था।

कविगुरु वाल्मीकि भरत का चित्र दिखाने को सब से पहले जब यवनिका उठाते हैं; तब भी हम उनकी मूर्त्ति उदासी से भरी पाते हैं। भरत खोटा स्वप्न देख कर, सबेरा होने पर उठ कर बैठे हैं, उनको प्रसन्न करने के लिये सामने नर्तकी नाच रही हैं। मित्र लोग व्यग्र हो कुशल पूँछ रहे हैं; भरत का मुख उदास और शोभाहीन हो रहा है। अयोध्या की विषम विपद के पूर्वाभास ने मानो उनके मन पर अधिकार जमा लिया है। वे किसी प्रकार सुस्त नहीं हो सकते। इतने में उन्हें लेने के लिये अयोध्या से दूत आये।

भरत ने उनसे व्यग्र हो प्रत्येक की कुशल पूँछी। दूतों ने द्व्यर्थव्यञ्जक उत्तर देते हुए कहा-" आप जिनकी कुशल चाहते हैं, उनकी कुशल है।" किन्तु पिछली रात का दुःस्वप्न और दूतों की व्यग्रता भरी बातें उनके लिये एक विषम समस्या हो गयीं। इन दोनों घटनाओं को एक दुश्चिन्ता के सूत्र में गूँथ कर वे बहुत ही उदास हो गये।

अन्त में अनेक देश, नद नदी, वन, पहाड़ों को नाँघ कर, भरत ने दूर से अयोध्या के वृक्षों की श्यामता देखी और आतङ्कित कण्ठ से सारथी से पूँछा-"यह तो अयोध्या सी नहीं दिखलाई देती। नगरी में पहले जैसा तुमुल शब्द क्यों नहीं सुन पड़ता? वेदपाठनिरत ब्राह्मणों की कण्ठध्वनि और काम काज में लगे हुए नर-नारियों के विपुल हलाहल शब्द बिल्कुल नहीं होते। जिन आनन्द-वाटिकाओं में रमणी और पुरुष एक साथ विचरा करते थे, आज उनमें कोई नहीं है। राजमार्ग चन्दन और छिड़काव से क्यों परिष्कृत नहीं हुए? रथ, घोड़े और हाथी, सड़कों पर क्यों नहीं आते जाते। खुले हुए किवाड़ और श्रीहीन राजपुरी मानो व्यङ्ग करती है कि यह तो अयोध्या नहीं, मानो अयोध्या का वन है।"

वास्तव में उस समय अयोध्या की श्री अन्तर्हित हो गयी थी। अयोध्या के सौभाग्य का भाण्डार लुट गया था। त्रिलोक-विश्रुत-कीर्त्ति महाराज दशरथ ने पुत्रशोक से प्राण त्याग दिये थे-अभिषेक-मञ्च पर बैठने वाले ज्येष्ठ राजकुमार विधाता के शाप से भिखारियों के वेष से वन में जा चुके थे। आभूषण और सखियों को छोड़ कर, अयोध्या की राजवधू भिखारिनों की तरह स्वामिसङ्गिनी हो

चुकी था। जिसके लम्बे और पुष्ट बाहु, सब प्रकार के आभूषण धारण करने योग्य थे, वह "सुवर्णच्छवि" लक्ष्मण, भाई और भावज के पदचिह्नों का अनुसरण कर चुका था। सब दूकानें बंद थीं। सुमंत्र ने बहुत ठीक कहा था-"समस्त अयोध्या नगरी मानो पुत्रहीना कौशल्या की दशा को प्राप्त हो रही है।"

भरत को इन बातों का हाल तिलभर भी अवगत नहीं है। वे मौन प्रतिहारियों का प्रणाम ग्रहण कर, चाव में भरे, पिता के कमरे में गये, पर वहाँ उनको न पाया। तब यह विचार कर कि पिताजी माता कैकेयी के घर में बहुत रहते हैं-वे उनको ढूँढ़ते माता के घर में गये।

सद्योविधवा कैकेयी आनन्द से फूल रही थी। पतिघातिनी पुत्र के भावी अभिषेक-व्यापार के आनन्द का चित्र अङ्कित कर प्रसन्न हो रही थी। भरत को देख कर वह और भी अधिक प्रसन्न हुई और भरत द्वारा महाराज दशरथ की बात पूँछने पर उसने कहा-"सब जीवों की जो गति है, वही गति तुम्हारे पिता की हुई है।[1]" यह सुनते ही कुल्हाड़ी से काटे गये वृक्ष की तरह भरत भूमि पर गिर पड़े और कहने लगे-"अक्लिष्टकर्मा पिता के हाथ का सुख स्पर्श कहाँ पाऊँगा।[2]" भरत को बिना महाराज के राज शय्या, चन्द्रहीन आकाशकी तरह जान पड़ी। उन्होंने माता कैकेयी से पूँछा-"राम कहाँ हैं? जो अब पिता के अभाव में, मेरे पिता हैं-जो मेरे बन्धु हैं-मैं जिनका दास हूँ-उन्हीं

---

१ या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।

२ क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः।

रामचन्द्र को देखने के लिये मैं विकल हूँ।" राम, लक्ष्मण और सीता निर्वासित किये गये हैं-यह सुन, कुछ क्षणों तक भरत स्तम्भित रहे। भाई के चरित्र में शङ्का कर वे बोले-"राम ने क्या किसी ब्राह्मण का धन चुराया था? क्या उन्होंने दुखियों को सताया था? या वे पराई स्त्री में आसक्त हुए थे? यदि नहीं-तो यह निर्वासन दण्ड उन्हें क्यों दिया गया?" इस पर कैकेयी ने कहा-"राम ने इन अपराधों में से कोई भी अपराध नहीं किया, बल्कि तीसरे प्रश्न के उत्तर में उसने कहा-"रामचन्द्र पराई स्त्रियों को आँख उठा कर भी नहीं देखते।[1]" अन्त में भरत को उन्नति और राजश्री की कामना से कैकेयीने, जो सारे काण्ड रचे थे-सो सब सुना कर और पुत्र का अनुराग उत्पादन की प्रतीक्षा से, कैकेयी अपने पुत्र का मुख देखने लगी।

गहरे मेघमण्डल ने मानो आकाश को छा लिया। धर्म-प्राण, विश्वस्त भ्राता इस दुःसह संवाद का मर्म क्षण काल तक नहीं समझ सके। उन्होंने माता की जो भर्त्सना की उसे उसकी महादुर्गति का स्मरण कर हम सब प्रकार समयोपयोगी समझते हैं। "तुम धार्मिकवर अश्वपति की कन्या नहीं-उनके वंश में राक्षसी हो। तुमने हमारे धर्म-वत्सल पिता को मार कर भाइयों को रास्ते का भिखारी बना दिया है। तुम नरक में जाओ।" जब गद्गद कण्ठ से भरत यह कह रहे थे, तब दूसरे घर में कौशल्या ने सुमित्रा से कहा-"भरत का बोल जान पड़ता है, वह आ

---

१ न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।

चुकी था। जिसके लम्बे और पुष्ट बाहु, सब प्रक
आभूषण धारण करने योग्य थे, वह " सुवर्णच्छ
लक्ष्मण, भाई और भावज के पदचिह्नों का अनुसरण
चुका था। सब दूकानें बंद थीं। सुमंत्र ने बहुत ठीक
था-" समस्त अयोध्या नगरी मानो पुत्रहीना कौश
की दशा को प्राप्त हो रही है।"

भरत को इन बातों का हाल तिलभर भी अवगत
है। वे मौन प्रतिहारियों का प्रणाम ग्रहण कर, चाव
भरे, पिता के कमरे में गये, पर वहाँ उनको न पाया।
यह विचार कर कि पिताजी माता कैकेयी के घर में
रहते हैं-वे उनको ढूँढ़ते माता के घर में गये।

सद्योविधवा कैकेयी आनन्द से फूल रही थी। पति
तिनी पुत्र के भावी अभिषेक-व्यापार के आनन्द का वि
अङ्कित कर प्रसन्न हो रही थी। भरत को देख कर वह औ
भी अधिक प्रसन्न हुई और भरत द्वारा महाराज दशर
की बात पूँछने पर उसने कहा-" सब जीवों की जो गति
है, वही गति तुम्हारे पिता की हुई है।[1]" यह सुनते ही
कुल्हाड़ी से काटे गये वृक्ष की तरह भरत भूमि पर गिर
पड़े और कहने लगे-"अक्लिष्टकर्मा पिता के हाथ का सुख
स्पर्श कहाँ पाऊँगा।[2]" भरत को बिना महाराज के राज
शय्या, चन्द्रहीन आकाशकी तरह जान पड़ी। उन्होंने माता
कैकेयी से पूँछा-" राम कहाँ हैं? जो अब पिता के अभाव
में, मेरे पिता हैं-जो मेरे बन्धु हैं-मैं जिनका दास हूँ-उन्हीं

१ या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।

२ क्व नु पाणिः सुखस्पर्शोऽनाविलाक्लिष्टकर्मणः।

रामचन्द्र को देखने के लिये मैं विकल हूँ।" राम, लक्ष्मण और सीता निर्वासित किये गये हैं-यह सुन, कुछ क्षणों तक भरत स्तम्भित रहे। भाई के चरित्र में शङ्का कर वे बोले-"राम ने क्या किसी ब्राह्मण का धन चुराया था? क्या उन्होंने दुखियों को सताया था? या वे पराई स्त्री में आसक्त हुए थे? यदि नहीं-तो यह निर्वासन दण्ड उन्हें क्यों दिया गया?" इस पर कैकेयी ने कहा-"राम ने इन अपराधों में से कोई भी अपराध नहीं किया, बल्कि तीसरे प्रश्न के उत्तर में उसने कहा-"रामचन्द्र पराई स्त्रियों को आँख उठा कर भी नहीं देखते।[1]" अन्त में भरत की उन्नति और राजश्री की कामना से कैकेयीने, जो सारे काण्ड रचे थे-सो सब सुना कर और पुत्र का अनुराग उत्पादन की प्रतीक्षा से, कैकेयी अपने पुत्र का मुख देखने लगी।

गहरे मेघमण्डल ने मानो आकाश को छा लिया। धर्म-प्राण, विश्वस्त भ्राता इस दुःसह संवाद का मर्म क्षण काल तक नहीं समझ सके। उन्होंने माता की जो भर्त्सना की उसे उसकी महादुर्गति का स्मरण कर हम सब प्रकार समयोपयोगी समझते हैं। "तुम धार्मिकवर अश्वपति की कन्या नहीं-उनके वंश में राक्षसी हो। तुमने हमारे धर्म-वत्सल पिता को मार कर भाइयों को रास्ते का भिखारी बना दिया है। तुम नरक में जाओ।" जब गद्गद कण्ठ से भरत यह कह रहे थे, तब दूसरे घर में कौशल्या ने सुमित्रा से कहा-"भरत का बोल जान पड़ता है, वह आ

---

१ न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।

वशिष्ठ प्रमुख मंत्रियों ने भरत से राज्यभार ग्रहण करने का अनुरोध किया। इस पर भरत ने कहा-" रामचन्द्र राजा होंगे, मैं अयोध्या की समस्त प्रजा मण्डली सहित जाकर और उनके चरण पकड़ कर लिवा लाऊँगा। यदि वे न आये तो चौदह वर्ष के लिये मैं भी वनवासी होऊँगा।"

शत्रुघ्न क्रोध में भर मन्थरा को मारने चले और कैकेयी को धमका कर जब उसकी ओर बढ़े, तब क्षमा के अवतार भरत ने उन्हें मना कर दिया।

भरत के साथ सब अयोध्यावासी रामचन्द्रजी को लौटा लाने के लिये दौड़े। शृङ्गवेरपुरी में गुहक के साथ भरत का साक्षात्कार हुआ। गुहक ने पहले भरत के विषय में सन्देह किया था, किन्तु भरत का मुँह देख कर गुहक को उनके हृदय का भाव ताड़ने में देरी न लगी।

इङ्गुदी के मूल में तृणशय्या पर रामचन्द्रजी ने केवल जलपान कर रात्रि व्यतीत की थी। वह तृणशय्या रामचन्द्र के विशाल बाहु पीड़न से निष्पेषित हुई थी और सीताजी की ओढ़नी से गिर कर स्वर्णबिन्दु उसके ऊपर बिखरे हुए थे। यह दृश्य देख कर भरत मौनी हो कर खड़े रह गये। गुहक बात कहते थे, किन्तु भरत उसे सुन ही नहीं सकते थे। भरत को संज्ञाशून्य देख कर, शत्रुघ्न उन्हें आलिङ्गन कर रोने लगे। साथ ही साथ रानियों और मन्त्रियों का शोक सहसा उफल पड़ा। बड़े यत्न से सचेत होने पर भरत आँखों में आँसू भर कर बोले-" यही क्या उन की शय्या है? जिन्हें बहुत काल से आकाशस्पर्शी महलों में रहने का अभ्यास था, जिनका महल पुष्पमाल्य, चित्र और चन्दन से अनुरञ्जित था, जिनके महल का

शिखर नृत्यशील शुक और मयूरों की विहारभूमि और गाने बजाने से मुखरित होता था और जिसकी काञ्चन की दीवारें उत्तम कारीगरी का नमूना थीं—उसी महल के मालिक इस इङ्गुदी के मूल में धूल पर पड़े थे, यह बात स्वप्न के समान जान पड़ती है। इस पर विश्वास नहीं होता। मैं किस मुँह से राजवेष धारण करूँ? भोग विलास के द्रव्य से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। मैं आज से जटा वल्कल धारण कर भूतल में शयन करूँगा और फल मूल खा कर जीवन बिताऊँगा।"

इसके बाद जटा-वल्कल-धारी विमूढ़ राजकुमार ने भरद्वाज मुनि के आश्रम में जाकर रामचन्द्र का अनुसन्धान किया। इस सर्वज्ञ ऋषि ने भी पहले सन्देह करके भरत के मन को उत्पीड़ित किया था। एक रात्रि भरद्वाज के आश्रम में आतिथ्य ग्रहण कर, मुनि के निर्देशानुसार राजकुमार चित्रकूट की ओर प्रस्थानित हुए। भरद्वाज ने भरत के शिविर में जा कर रानियों को पहिचानना चाहा। भरत ने अपनी माताओं का परिचय इस प्रकार दिया—"भगवन्! यह जो शोक और अनाहार से क्षीणदेह सौम्यमूर्त्ति देवता की तरह दिखलाई देती है—यही मेरे बड़े भाई रामचन्द्रजी की माता है। इनके बाएं हाथ का सहारा ले जो उदास खड़ी है, और जो वनान्तर के शुष्क पुष्प कनेर के तरु की तरह शीर्णाङ्गी है—यही लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी सुमित्रा है और उनके पास जो खड़ी है, यही अयोध्या की राजलक्ष्मी को विदा करके आयी है और यह पतिघातिनी, सब अनर्थों की मूल, वृथा प्रज्ञाभिमानिनी और राज्यकामुका इस दुर्भाग्य की

माता है।" यह कहते कहते भरत के दोनों नेत्र जल से भर गये और क्रुद्ध सर्प की तरह एक बार सजल नेत्रों से उन्होंने अपनी जननी की ओर देखा।

मातृवृन्द और मंत्रिवर्ग से परिवृत भरत चित्रकूट के समीप पहुँच कर रथ से उतर पड़े और पैदल आगे बढ़े। भरत के साथ के लोगों की भीड़ की चाल से धूल उड़ कर आकाश में छा गयी और तुमुल शब्द करते पशु पक्षी चारों ओर दौड़ने लगे। तब रामचन्द्रजी ने संत्रस्त हो कर लक्ष्मण से पूँछा-"देख, कोई राजकुमार या राजा तो इस वन में आखेट के लिये आया है क्या? अथवा किसी भीषण जीव जन्तु के आगमन से इस शान्त निकेतन की शान्ति में यह विघ्न उपस्थित हुआ है?" जब लक्ष्मण ने एक ऊँचे पुष्पित शालवृक्ष पर चढ़ कर इधर उधर देखा; तब पूर्व दिशा में उन्हें सैन्यश्रेणी दिखलाई दी। उसे देख वह बोले-"अग्नि बुझा दो; सीता को गुफा में छिपा कर रखो और अस्त्र शस्त्र ले कर तैयार रहो।" इस पर रामचन्द्र ने पूँछा-"किसकी सेना आती है, कुछ समझ में आया क्या?" लक्ष्मण ने कहा-"यह जो पास ही विशाल वृक्ष दिखलाई पड़ता है, उसके पत्तों के बीच से भरत के रथ की कोविदार चिह्नित ध्वजा दिखाई देती है। अभिषेकमात्र से अपना मनोरथ पूरा हुआ न समझ कर, निष्कण्टक राज्य एवं श्रीलाभ की कामना से, भरत हम लोगों के मारने के संकल्प से अग्रसर हो रहा है। आज सब अनर्थों के मूल भरत को मैं मारूँगा।"

यह सुन रामचन्द्रजी ने कहा-"भरत हम लोगों को लौटा कर ले जाने के लिये आता है। सब अवस्थाओं को

जान कर, मुझमें चिरकाल से अनुरक्त, मेरा प्राणों से प्यारा भरत स्नेहपूर्ण हृदय से, पिता को प्रसन्न कर, हम लोगों के लिये आया है। तुम उसके विषय में ऐसा अनुचित सन्देह क्यों करते हो? भरत ने तो हम लोगों की कभी कुछ बुराई नहीं की। तुम उसके प्रति क्यों कर वाक्यों का प्रयोग करते हो? यदि तुम्हें राज्य का लोभ हो तो हम भरत से कहकर निश्चय तुमको राज दिला देंगे।" धर्मशील भाई की इस बात को सुनकर लक्ष्मण ने लज्जा से नीचा सिर कर लिया।

इसके कुछ परे ही भरत वहाँ आ पहुँचे। अनशनकृश और शोक की सजीव मूर्त्ति देवोपम भरत, रामचन्द्रजी को चट्टान पर बैठा देख बालकों की तरह उच्च स्वर से रोने और कहने लगे—"जिसके सीस पर सुवर्णछत्र शोभा पाता था, उसी रघुवंश-मणि के सीस पर आज जटाभार क्यों है! हमारे बड़े भाई का शरीर चन्दन और अगर से साफ़ होता था आज वही अङ्गरागहीन धूलि-धूसरित हो रहा है! जो समस्त विश्व की प्रकृति-कुञ्ज के आराध्य की वस्तु है, वह भिखारी के वेष से वन वन में फिर रहा है। मेरे कारण ही ये सारे कष्ट सहन कर रहे हो—मेरे इस लोकगर्हित जीवन को धिक्कार है।" यह कहते कहते भरत उच्च स्वर से रोकर रामचन्द्र के पैरों पर गिर पड़े। इन दो त्यागी महापुरुषों के मिलन का दृश्य बड़ा ही करुण था। भरत का मुख सूख गया है, उनके माथे पर भी जटाभार और देह पर चीर है। वे अञ्जलि बाँध कर अग्रज के पैरों पर लोट रहे हैं! भरत इतने विवर्ण और कृश होगये थे कि रामचन्द्रजी ने उन्हें देर में पहिचान पाया। फिर अत्यन्त

आदरसहित हाथ पकड़ कर उनको उठाया और मस्तक सूँघ कर स्नेहपूर्वक गोद में बिठा कर, रामचन्द्रजी ने भरत से कहा-"वत्स! तुम्हारा यह वेष क्यों है? तुम्हारा इस वेष से वन में आना ठीक नहीं।"

भरत ने बड़े भाई के पैरों पर लोट कर कहा-"मेरी जननी घोर नरक में गिर रही है, आप उसकी रक्षा करें, मैं आपका भाई हूँ। आपका शिष्य और दासानुदास हूँ। मेरे ऊपर आप प्रसन्न हूजिये। आप राज्य में पधार कर, अपना अभिषेक कराइये।" बहुत सी बातें और वितण्डे के अनन्तर भरत ने कहा-"मैं चौदह वर्ष तक वन में वास करूँगा-आपकी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करना मेरा काम है।" जब किसी प्रकार भी रामचन्द्रजी लौटने पर सम्मत न हुए, तब भरत अनशनव्रत धारण कर कुटीर के द्वार पर भूतल पर गिर पड़े। रामचन्द्रजी ने ऐसी अवस्था में भरत को आदरपूर्वक उठाया और अपनी चरणपादुका देकर लौटने को कहा। भरत ने भाई की खड़ाउओं को अपने सीस पर रक्खा। सहस्रों आभूषण धारण करने से जो शोभा नहीं हो सकती-इन खड़ाउओं को सिर पर धारण करने से वही शोभा भरत की हुई। विदा होते समय भरत ने कहा-"राज्यभार इन खड़ाउओं को समर्पण कर चौदह वर्ष तक तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा, उस समय के अन्त में यदि आप न आवें तो अग्नि में पड़ कर जीवन विसर्जन करूँगा।"

अयोध्या के पास पहुँच कर भरत ने कहा-"अयोध्या अब अयोध्या नहीं है। मैं इस शिरहीन पुरी में प्रवेश नहीं कर सकता।" नन्दी ग्राम में राजधानी बनी। वह

राजधानी नहीं-ऋषि का आश्रम बना। मंत्रिगण जटा-वल्कल-धारी, फलमूलाहारी राजा के समीप किस मुँह से बहुमूल्य वस्त्र पहन कर बैठते? उन सब ने भी काषाय वस्त्र पहनने आरम्भ कर दिये। उस काषाय-वस्त्र-धारी मंत्रियों की मण्डली से घिर कर, वनोपास से कृशाङ्ग, त्यागी राजकुमार ने खड़ाउओं पर चँवर फिरा कर राज्य पालन किया था।

भरत की यह उदास मूर्ति रामचन्द्रजी के चित्त में शूल की तरह चुभती रही। जब सीता-हरण के पश्चात् वे उन्मत्त वेश में पम्पा के तीर पर फिर रहे थे, तब उन्होंने कहा था,-"इस पम्पातीर की रमणीय दृश्यावली सीता के वियोग और भरत के दुःख को स्मरण कर, मुझे अच्छी नहीं लगती।" एक दिन और लङ्का में रामचन्द्रजी ने सुग्रीव से कहा था-"भाई! भरत जैसा भाई जगत् में, मैं कहाँ पाऊँगा?"

अयोध्या में रामचन्द्रजी के पधारने पर भरत, स्वयं उनके पैरों में वे ही दोनों खड़ाऊँ पहना कर कृतार्थ हुए और उनको प्रणाम कर बोले-"देव! तुमने इस अयोग्य के हाथों में जो राज्यभार समर्पण किया था, उसे स्वीकार करो। चौदह वर्ष में राजकोष में जो धन आया है वह दसगुना अधिक हो गया है।"

रामायण में यदि कोई चरित्र ठीक आदर्श समझ कर ग्रहण किया जाय तो वह एकमात्र भरत का चरित्र है। सीताजी ने लक्ष्मणजी को जो कटूक्तियाँ सुनायीं, वे क्षमा-योग्य नहीं हैं। रामचन्द्रजी के बालिवध इत्यादि अनेक कार्य हैं, जिनका समर्थन नहीं किया जा सकता, लक्ष्मणजी

की बातें अनेक बार रूखी और उद्दण्डता से भरी होती हैं। कौशल्या ने दशरथ से कहा था-"कोई कोई जल के जीव जिस प्रकार अपने सन्तान को खा लेते हैं, तुमने भी उसी प्रकार किया है।" किन्तु भरत के चरित्र में कोई भी त्रुटि नहीं। पादुका के ऊपर सुवर्ण चँवर फिराने और जटा-वल्कल धारण करने वाले इस राजर्षि के चित्र से रामायण में एक अद्वितीय सौन्दर्य आ गया है। दशरथ ने बहुत ठीक कहा था कि-" धर्मतः राम से भी अधिक मैं भरत को मानता हूँ।"

कैकेयी के सहस्रों दोष हम उस समय क्षमा के योग्य समझते हैं, जब हमें इस बात का विचार उत्पन्न होता है कि वह इस प्रकार के सुपुत्र की गर्भधारिणी है। हम निषादाधिपति गुहक के साथ एकवाक्य होकर यह कह सकते हैं-"बिना यत्न के मिलते हुए राज्य को तुम छोड़ना चाहते हो, संसार में तुम्हारे तुल्य कोई दिखाई नहीं देता!"[1]

—रामायणी कथा।

---

१ धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥

युवराज चन्द्रापीड़ को मंत्री का उपदेश।

जब राजकुमार चन्द्रापीड़ विद्याध्ययन कर गृह से लौट आये और उनको युवराज देना निश्चित हो चुका; तब वे एक दि शुकनाश नामक मंत्री के घर, उसे प्रणाम करने गये मंत्री शुकनाश ने उस समय को प्रचलित रीत्यनुसार उपदेश दिया था, वह हम नीचे उद्धृत करते हैं।

शुकनाश ने कहा—राजकुमार! तुमने सब शास्त्र पढ़े और यावत् विद्याओं का अभ्यास किया है तथा सम्पू कलाएँ भी सीखी हैं। ऐसा कोई विषय नहीं जो तु अवगत न हो और जिसके उपदेश की तुम्हें अपेक्षा हो अब तुम युवावस्था को प्राप्त हुए हो और तुमको युवरा पद पर अभिषिक्त कर महाराज ने तुम्हें समस्त धन-सम्प का अधीश्वर बनाना निश्चित किया है। अब तुम यौवन धन और प्रभुत्व—तीनों के अधिकारी हुए हो। पर इन तीनों में यौवनकाल बड़ा विषम है। यौवनकाल में पड़ कर

लोग बनैले हो जाते हैं। जो युवा हैं वे काम, क्रोध, लोभ आदि पशुधर्म को सुख का मूल समझ बैठते हैं और यौवन के प्रभाव से एक प्रकार का जो अन्धकार मन पर छा जाता है उसके दूर करने का उपाय नहीं करते। यौवनावस्था के आरम्भ होते ही बड़ी निर्मल बुद्धि भी बरसाती नदी की तरह गँदली हो जाती है और विषयों की तृष्णा समस्त इन्द्रियों को उत्पीड़ित करने लगती है। यौवनावस्था में बुरे काम भी अच्छे लगने लगते हैं और बुरे काम करते समय लज्जा उत्पन्न नहीं होती। युवा पुरुष भले ही मद्यपान न करता हो, पर यौवन का मद ही युवकों को सदा मद में चूर बनाये रखता है और उनको हित-अहित एवं अच्छे बुरे का तिल भर भी विचार नहीं रहता।

धन, गर्व को उत्पन्न करता है। जो अहङ्कारी हैं, वे दूसरे लोगों को मनुष्य नहीं समझते। धनी युवकों के स्वार्थ की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि वे अपने लाभ की बात को छोड़ अन्य बातों पर ध्यान देना तो एक ओर रहा, प्रत्युत उन्हें सुनते ही क्रुद्ध हो जाते हैं। यौवन का मदरूपी विष ऐसा उग्र है कि इसकी कोई औषधि ही नहीं है। धनी युवक अपने सुख के सामने दूसरों के दुःख और सन्ताप को कुछ भी नहीं गिनते। यौवन, प्रभुत्व और ऐश्वर्य-ये तीनों क्षणिक एवं अस्थायी हैं। इनकी तरङ्गों की चपेटों से वे ही लोग बच सकते हैं, जो बुद्धिमान् हैं। जो युवक बुद्धिरूपी नौका पर चढ़े बिना इस भवसागर से पार होना चाहते हैं, उनका बेड़ा पार नहीं होता, प्रत्युत वे इस प्रवाह में पड़ कर रसातलगामी होते हैं, और फिर वे उबारने पर भी नहीं उबरते।

यह नियम नहीं है कि जो सद्वंश में उत्पन्न हो उसका विनम्र और सत् स्वभाव हो । क्या अच्छी भूमि में कटीला पेड़ नहीं उगता ? क्या चन्दन की लकड़ी से उत्पन्न अग्नि में दहन-शक्ति नहीं होती ? आप जैसे बुद्धिमान् पुरुषों ही को उपदेश देना उचित है । क्योंकि मूर्ख को उपदेश देना वैसा ही है, जैसा पत्थर पर अनाज बोना । सूर्य की किरणें, स्फटिक मणि की भाँति क्या मृत्पिण्ड में प्रतिफलित हो सकती हैं ? सदुपदेश से बढ़ कर अमूल्य रत्न और कोई नहीं है । इसमें सबसे बढ़ कर विशेषता यह है कि यह शरीर को कुरूप किये बिना ही, मनुष्य की उन्नति करता है । ऐश्वर्यशालियों को उपदेश देनेवाले लोग बहुत थोड़े होते हैं, किन्तु उनकी हाँ में हाँ मिलानेवाले चापलूस लोगों की संख्या अधिक है । धनी लोग भले ही सर्वांश में अनुचित बात कहें, और अन्यायपथ का अनुसरण करें, परन्तु चापलूस उसीका समर्थन करेंगे । क्योंकि उनका कर्तव्य तो ठकुरसुहाती कहना है । यदि कोई पार्श्ववर्ती पुरुष साहस करके ऐसे मदान्धों की अनुचित बातों अथवा कार्यों का प्रतिवाद करे, तो उसके वाक्यों को सुनता ही कौन है ? सुनना तो एक ओर रहा, प्रत्युत प्रतिवाद करने वाले का अपमान करने में भी वह सङ्कोच नहीं करता । सचमुच अर्थ सारे अनर्थों का मूल है । झूठा अभिमान, तुच्छ अहङ्कार और वृथा धृष्टता बहुधा अर्थ ही से उत्पन्न होती है ।

प्रथम हम लक्ष्मी ही की यथार्थ विवेचना करके देखते हैं । इसे भले ही बड़े बड़े कष्टों को सह कर उपार्जित करो और उसे अपने पास रखने के भले ही हज़ारों यत्न करो,

पर वह एक जगह कभी नहीं टिकती। लक्ष्मी, रूप, गुण, पाण्डित्य, कुल अथवा शील-इनमें से किसी एक का भी विचार नहीं करती। यही क्यों, प्रत्युत वह तो बड़े बड़े रूपवान्, गुणी, विद्वान् और कुलीनों को छोड़ कर, अधम से अधम पुरुष के घर में जा कर रहती है। यह चञ्चला जिसके घर का आश्रय ग्रहण करती है, वह लोभवश-वर्त्ती हो कर दुष्कर्म को सुकर्म, पशु-धर्म को रसिकता की चरम सीमा, स्वेच्छाचार को प्रभुत्व और मृगया ही को व्यायाम समझने लगता है। जो लोग मिथ्यास्तुति करना नहीं जानते, वे धनी लोगों के पास रह नहीं सकते। जो दूसरों की हानि करना ही अपना कर्त्तव्य कर्म समझ लेते हैं और जो अच्छे बुरे आचार का विचार छोड़ देते हैं-वे ही धनियों के निकट आने पाते हैं और ऐसों ही की वहाँ प्रशंसा भी होती है। धनी भी चापलूस को यथार्थवादक जान कर, उसीके साथ बातचीत करता है। धनी की समझ में ऐसे ही लोग बुद्धिमान् और उचित परामर्शदाता होते हैं। पर जो सत्य और यथार्थवादी तथा उपदेष्टा हैं-वे धनियों के पास फटकने भी नहीं पाते। हे राजकुमार! तुमने दुरवगाह नीतिप्रयोग और दुस्तर राज्य-शासन का भार अपने ऊपर लिया है। अतः तुम सावधान हो। कहीं ऐसा न हो कि लोग तुम्हारी निन्दा करने लगें। तुम ऊपर वर्णित धनियों की भाँति कहीं मत हो जाना। राजा अपने नेत्रों से न देख कर, दुराचारियों के हाथ के कठपुतले बन जाया करते हैं और ऐसा करने ही से उनका नाश होता है। जो दुराचारी होते हैं वे अपने स्वार्थ के सामने अन्न-दाता प्रभु की भलाई का भी कुछ विचार नहीं करते।

दिखावटी साधु-भाव रख कर, अपने दुष्टभाव को छिपाये रखते हैं और अवसर हाथ लगते ही, स्वामी को चिकनी चुपड़ी बातों में भुलाया दे, उसका सर्वनाश कर देते हैं। यद्यपि तुम स्वभाव ही से धीर हो, तथापि तुमको बारम्बार उपदेश देता हूँ, जिससे तुम धन एवं यौवन के मद से उन्मत्त हो कर, दुराचार में प्रवृत्त न हो। महाराज की इच्छानुसार युवराज-पद पर अभिषिक्त हो कर और अपने कुल की मर्य्याद का सदा विचार रख कर, राज्य-शासन करो। शत्रुरूपी अज्ञानान्धकार को देश से भगाओ और समस्त देशों को जीत कर, अखण्ड भूमण्डल पर अपना आधिपत्य स्थापित करो तथा प्रजा का पालन करो।

इस प्रकार उपदेश देकर शुकनाश चुप हुए और राजकुमार इन उपदेशों को मनन करते हुए अपने घर को गये

उद्योग और सफलता।

"दुःख के पीछे सुख मिलता है" यह नियम अटल है। जान पड़ता है कि सारी सृष्टि इसी नियम से बनी होगी क्योंकि जब हम किसी मनुष्य के किसी काम को ध्यान से देखते हैं तब जान पड़ता है कि कर्त्ता को कार्य रूपी फल के पाने के लिये उद्योग रूपी कोई दुःख अवश्य ही भुगतना पड़ा है। यह बात नहीं है कि यह नियम मनुष्य के कामों ही में लगता है वरन् प्राकृतिक कामों में भी यह हमको भली भाँति मिलता है। कई लोगों ने कई तालाब बावड़ी आदिक जलाशयों में पानी का चोर देखा होगा। किसी किसी जलाशय का पानी देखते देखते अथवा थोड़े ही दिनों में सूख जाता है। हम नहीं जान सकते हैं कि यह क्यों इतना शीघ्र सूख गया! पर सच्ची बात यह है कि यह पानी किसी भीतर के छेद में हो कर किसी निकटस्थ अथवा दूरस्थ जलाशय में पहुँच जाता है। इसी छेद को "पानी का चोर" कहते हैं। कभी कभी यह पानी सौ सौ कोस दूर के जलाशय में पहुँच जाता है। यही नियम अब यहाँ घटाया जाता है।

अब देखिये कि पानी कोई तीक्ष्ण शस्त्र तो है ही नहीं
यह तुरन्त पृथ्वी को फोड़ कर सौ कोस दूर पहुँच जा
नहीं इस प्राकृतिक पदार्थ (पानी) को भी सौ कोस प
होने के लिये पहले कई महीनों या बरसों तक उद्यो
रूपी दुःख भोगना पड़ता है। तब कहीं उसका मार्ग अवि
रुद्ध होता है। यह भी भली भाँति जाँची हुई बात है कि
दुःख के पीछे सुख है अर्थात् उद्योग करने के पीछे चाही
हुई वस्तु मिलती ही है। पर हम तो बहुत कुछ सिर पीटने
हैं तो भी हमारा मतलब क्यों नहीं बनता? नहीं नहीं, यह
उलहना उद्योग को नहीं देना चाहिये, वरन् अपने को
देना चाहिये, क्योंकि हमको जैसा चाहिये वैसा हम उद्योग
ही नहीं करते हैं। अब हमको यही दिखाना है कि हमारे
उद्योग का ढङ्ग कैसा होना है और कैसा होना चा
और यही इस निबन्ध का आधार है। हम लोगों
पहली भूल यह होती है कि हम "तेते पाँव पसारिये जे
लाँबी सौर" इस वाक्य के विरुद्ध काम करने लग जा
हैं। अर्थात् अपने वित्त भर काम में लगने के बदले ह
ऐसे ऐसे कामों में हाथ डाल देते हैं जिनका पूरा होन
तो दूर रहा, उलटा उनसे अपने को सुलझा लेना भ
टेढ़ी खीर है। कठिन काम के प्रारम्भ को सीधा जान कर
हम उसको तुच्छ समझ लेते हैं पर आगे चलने पर जान
पड़ता है कि यह तो हमसे नहीं हो सकेगा। फिर हमको
हार कर, वह अधूरा ही छोड़ना पड़ता है जिससे हमारा
इतना अमूल्य समय व्यर्थ ही जाता है। नहीं, वरन् कई
काम ऐसे होते हैं, जिनको हार कर अधूरा छोड़ने से
समय ही नहीं बिगड़ता है, वरन् कई विपत्तियाँ भी आ

रती हैं। जैसे किसी मनुष्य ने सफरी ठौर में विषैले
ाले साँप को मारना चाहा और उसके एक छड़ी की
ोट दे डाली; पर उसको पीछे जान पड़ा कि साँप बल-
ान् और ठौर छोटी है यह तो मुझसे नहीं मारा जा
कता है। यह विचार कर वह डर गया। पर अब
ेसे मनुष्य का कुशल नहीं है। क्योंकि घायल साँप मौत
क बराबर होता है। प्रथम तो उस मनुष्य को सफरी
ौर में साँप से छेड़ छाड़ करना नहीं चाहिये थी और
ो की थी तो फिर उसे परमधाम का मार्ग ही बताना
चाहिये था। ऐसे काम को दुस्साहस कहते हैं। इसी
दुस्साहस का एक और उदाहरण है। एक समय गाय
भैंसों के एक बाड़े में एक सिंह आ कूदा। भैंस का उछाल
फेंकना दाल भात नहीं होता है। पर उसने एक बड़ी सी
भैंस को बाड़े से बाहर फेंकने का दुस्साहस कर डाला।
दैवयोग से उस भैंस के सींगों में दूसरी भैंस के सींग फँस
गये जिससे पहली के साथ दूसरी भी बाहर गिर गई।
प्रातःकाल ग्वाले ने बाड़े में सिंह को मरा देखा। कारण
यह था कि उसने अपने दुस्साहस के आगे यह नहीं देखा
कि भैंस दो हैं। बस फिर क्या था। सिंह में बल तो
अद्भुत होता ही है, इससे भैंस तो बाहर गिर गयी, पर
बोझ के मारे इसके हृदय के किवाड़ भी खुल गये जिस-
से लोहू रूपी स्वर्गानुराग उगलता हुआ वह परलोक को
चल दिया।

इन बातों से यह तत्त्व निकलता है कि जो हमको
कठिन काम ही करना हो तो पहले उसके योग्य हो जाना
चाहिये। अब यदि कोई कहे कि तुम्हारा कहना तो उस

अनाड़ी का सा है जो कहता था कि जब तक मैं भली भाँति नहीं सीखूँगा तब तक पानी में पैर न डालूँगा। तो हमारा यही उत्तर है कि यद्यपि पानी में दिये बिना तैरने की योग्यता नहीं आ सकती है तथापि भी तो निरा अनाड़ीपन है कि तैरने का अभ्यास बिना ही हाथोंडुब्बा पानी में कूद पड़े।

नाटक में मुख्य गुण यह है कि दर्शकों में यह भाव बनाये रखे कि देखें आगे क्या होता है। पर जिसने सपने में भी नाटक-रचना-शैली नहीं सीखी, वह यदि विद्वानों की देखादेखी उत्साह के मारे नाटक बनाने लगे-तो क्या उसके नाटक में वह गुण आसकता है? कदापि नहीं। वह पहले अङ्क में तो, आगे जो जो काम पात्र करेंगे-उनका भण्डाफोड़ करेगा और आगे के अङ्क में उन को करेगा, जिसमें नाटक का सारा रस फीका पड़ और दर्शकों को भी मीठी नींद खोने के सिवाय और लाभ न होगा। इसीलिये इस उदाहरण से हमारा अभिप्राय है कि जैसे नाटक बनाने से पहले नाटक-रच शैली सीखनी चाहिये, वैसे ही किसी कार्य में हाथ डाल के पहले, तत्सम्बन्धिनी योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिये अयोग्य मनुष्य से कोई काम नहीं बनता, यही बात नहीं। किन्तु थोड़ा बहुत काम बना भी, तो भी वह बिगड़ जाता है। सो भी ऐसा कि दूसरा मनुष्य भी फिर उसे नहीं सुधार सकता।

हमारे उद्योग के सफल न होने का दूसरा कारण यह है कि किसी किसी काम के आरम्भ में लोग अत्यन्त उत्साह दिखलाते हैं। क्योंकि काम को करने का उत्साह और प्रण

ये दोनों मन के धर्म हैं। इनमें यदि एक प्रबल हुआ; तो दूसरा निर्बल पड़ जाता है। इसलिये जब उत्साह अमर्याद हो जाता है; तब प्रण निर्बल पड़ जाता है। अमर्याद वस्तु कभी नहीं ठहर सकती है। इसीलिये प्रण, जो निर्बल है ही, उधर थोड़े ही दिनों में उत्साह की भी इतिश्री हो जाती है। तब उस काम के बेली राम ही रह जाते हैं। सदा से देखा गया है कि बरसने वाले बादल अर्थात् किसी काम में होने वाले लोग वे ही होते हैं जो गरजते नहीं हैं। अर्थात् जिनका उत्साह मर्यादा को नहीं लाँघता है। यही नहीं, किन्तु जो लोग बहुत उत्साह दिखाते हैं, वे जब सफल नहीं होते हैं; तब वे लोगों को अपना मुँह दिखाने में भी लजाते हैं। और जब एक बार उनका अनुचित उत्साह भङ्ग हो जाता है; तब आगे उनको किसी काम में, उचित उत्साह भी नहीं होता है। यद्यपि उनको उत्साहित होना चाहिये, तथापि वह उत्साह बाहिर नहीं निकलना चाहिये। यह कहा जाता है कि किसी मनुष्य से यदि कोई पाप बन गया हो तो वह उसे ठौर ठौर लोगों से कहता फिरे जिससे पाप का बहुत कुछ प्रायश्चित्त हो जाता है। जब दिखावे से पाप भी घट जाता है; तब उत्साह क्यों न घटना चाहिये। इसी लिये हमको चुपचाप उत्साह से काम में लगे रहना चाहिये।

हमारे उद्योग के न फलने का तीसरा कारण यह है कि हम शीघ्र ही अपने उद्योग का फल देखना चाहते हैं। अपने विचार से हमको यही जान पड़ता है कि इसका कारण हमारे शरीर की निर्बलता है। क्योंकि समय के फेर से हम दृढ़ या निर्बल होते रहते हैं और इतिहासों से यह भी जाना जाता है कि जब तक लोगों के शरीर दृढ़ रहते हैं;

तभी तक उनमें अचम्भे में डालने वाले उनसे का
हैं। दृढ़ पुरुषों के समय में दुर्बल पुरुष भी अद्भुत
कर सकता है। क्योंकि उसके दुर्बलपन का कारण
जन्य होता है। परन्तु निर्बल लोगों के समय में वैसे
बहुत कम होते हैं, क्योंकि शरीर की निर्बलता के का
उनका मन भी इतना निर्बल होता है कि वे श्रम करने
साहस नहीं कर सकते। यदि करें भी तो थोड़े ही दि
के पीछे सिर पर हाथ रख कर कहते हैं कि हाय! अब त
कुछ भी तो फल न हुआ। अब इसको छोड़ ही दो। लो
यह समझ बैठते हैं कि उद्योग का फल छोटी सी चीज़ है
यह अब तक क्यों नहीं हुआ? पर यह निरी भूल है।
उद्योग का फल बड़ी कठिन वस्तु है। यह नयी सृष्टि रचना
है। गेहूँ पहले दाने होते हैं। उनको पीसना पड़ता है, फिर
उसको छान कर आटा बनाया जाता है। फिर वह उसना
जाता है, फिर उसको बेलन से बेलते हैं। फिर उसे त
पर सेकते हैं। अन्त में जब रोटी तैयार हो जाती है त
घी से चुपड़ी जाती है। तब कहीं जा कर पेट में रखने
योग्य वह होती है। अब देखिये कि क्या यह नयी सृष्टि
नहीं हुई? उसका पहला स्वरूप दाना था-पीछे वह फुलका
हुआ। यह क्यों? औषध का गुण तो प्रत्यक्ष होता है, पर
वह भी पेट में जाते ही अपना गुण नहीं बतला देती है।
फिर उद्योग जिसका फल परोक्ष है-कैसे शीघ्र फलीभूत
हो सकता है? तभी तो हमारे पूज्य नीतिज्ञों ने उद्योगी को
पुरुषसिंह इसीलिये कहा है कि उद्योग करते करते उस
का धैर्य्य अपनी ठौर नहीं छोड़ता है।

हम पहले कह आये हैं कि शरीर की निर्बलता के साथ

होने वाली मन की निर्बलता के कारण हम अपने उद्योग का फल शीघ्र देखना चाहते हैं, पर सच पूँछिये तो निर्बलता का कारण आलस है। क्योंकि आलस से भोग विलासादिकों में रुचि होती है। इसीसे शरीर निर्बल होता है। अथवा यों कहिये कि आलस का दूसरा स्वरूप भोग विलासादिकों में रुचि है। इसलिये आलस को सब से पहले धता बताना चाहिये। क्योंकि यह मनुष्य का मित्रमुख शत्रु है।

हमारे उद्योग के फलीभूत न होने का चौथा कारण यह है कि हम एक साथ बहुत से कामों को हाथ में ले लेते हैं-जो भूल अपने से दुष्कर काम में लगने से होती है-वह इसमें भी होती है। पाँच कामों को एक साथ करने में चाहे अलग अलग एक के पीछे एक को करने से थोड़ी देर लगती हो, पर वे काम भी तो वैसा करने से बिगड़ जाते हैं, जैसे कोई पण्डित शृङ्गार, वीर और करुण रसों पर भिन्न भिन्न ग्रन्थ बनाने लगा। यदि वह प्रत्येक ग्रन्थ का कुछ अंश प्रति दिन बनावेगा, तो उसके ग्रन्थों में जैसी चाहिये वैसी उत्तमता से किसी रस का परितोष नहीं हो सकेगा-क्योंकि मनुष्य की रुचि कुछ समय तक ही रहती है। इसलिये जब तक ग्रन्थकर्त्ता को शृङ्गाररस में रुचि होगी; तब तक क्या वीर, क्या करुण रस भली भाँति नहीं आ सकेगा। ऐसे ही जब तक उसकी रुचि करुण रस में रहेगी; तब तक क्या उसका मन मार-काट में लगेगा और एक विषय में लगने से जो जो बातें उपजती हैं वे तीन विषयों में लगने से कभी नहीं उपज सकती हैं। हाँ, जिन दिनों में उसकी रुचि जिस रस में

सफल न होने का पाँचवाँ कारण यह
इष्टफल के अनुसार उद्योग नहीं करते
इष्टफल-प्राप्ति के लिये जितना उद्योग होना
उतना नहीं करते हैं। यहाँ एक छोटासा उदाहरण
ाता है। जैसे हमको दस दिन में पचास पृष्ठ की
ि को कण्ठ करके सुनाना है, तो उसके पाँच
नित्य कण्ठ करने से काम नहीं चल सकता है।
मको उस पोथी के इतने पृष्ठ नित्य कण्ठ करने
के एक बार सारी पोथी को कण्ठ कर लेने के
ा समय हमें और मिले कि हम समस्त पोथी
ा बार दुहरा सकें। हम यही समझ बैठते हैं कि
ोग पूरा है और इसी भूल में पड़ कर हम उतने
पर सन्तोष कर लिया करते हैं, जिससे अवधि
ती है और काम अधूरा ही रह जाता है।

हमारे उद्योग के सफल न होने का छठवाँ कारण यह है कि हम जिस काम में हाथ डालते हैं, उसको हृदय से नहीं चाहते। केवल लोकरीति मान कर उसको किया करते हैं। जैसे कोई पण्डित देशाटन कर रहा है और किसी देश में उसके मित्र ने कहा–"पण्डितजी महाराज! आपका धर्म्मोपदेश यहाँ हो जाय तो क्या अच्छा हो!" पण्डितजी उत्तर देते हैं–"विचार तो हमारा आगे जाने का था, पर आप लोग कहते हैं तो वैसा ही किया जायगा।" कहिये क्या इन पण्डितजी के धर्म्मोपदेश से लोगों में धर्म्म की रुचि बढ़ेगी? चाहे वे उपदेश देते देते बकवृत्ति धारण कर लें वा रोने ही क्यों न लग जाँय, पर श्रोताओं की धर्म्म में कुछ भी रुचि नहीं हो सकती है अथवा हो भी तो मण्डप के बाहर निकलते ही तुम तुम्हारे और हम हमारे-मानो उपदेश दिवास्वप्न था। इसका कारण यही है कि पण्डितजी का मन तो दूसरे देश में है। फिर उनका दिया उपदेश क्या धूल रुचि बढ़ावे? चित्त से चाहने वाले मनुष्य के शब्द ही कुछ और होते हैं।

एक दुखिया भक्त सच्चे मन से स्तुति कर रहा है और एक कवि अपने ग्रन्थ में आये हुए नायक की भगवद्स्तुति का वर्णन कर रहा है-क्या इन दोनों स्तुतियों में भेद नहीं होगा? सच्चे भक्त की स्तुति से प्रत्येक मनुष्यों के कण्ठावरोध आदिक भक्ति के लक्षण होवेंगे। पर कवि की स्तुति को लोग केवल यों कह कर ही सराहेंगे कि क्या अच्छी कविता है। जिस काम को किया उसको जी से चाहा। इस गुण वाले बुद्धदेव

होगी, उन दिनों में वह उसी रस का वर्णन करेगा। त
उसका ग्रन्थ उत्तम ही बनेगा।

यद्यपि छोटे छोटे काम भिन्न भिन्न होने पर भी ए
साथ कई हो सकते हैं, तथापि बड़े बड़े कामों में ऊप
लिखा हुआ नियम ही लगता है। यद्यपि ईश्वर की कृप
से कई एक मनुष्य ऐसे भी हो गये हैं और हैं जो कई एक
बड़े बड़े कामों को एक साथ ही कर लेते हैं तथापि वा
पूरे सिद्धहस्तों ही का काम है। जैसे हमारे प्रातःस्मरणीय
शङ्कराचार्य, वाचस्पति मिश्रादिकों ने बीसों ग्रन्थरत्न
बनाये हैं, जिससे जान पड़ता है कि उन्होंने कई एक ग्रन्थों
को एक साथ ही बनाया होगा। पर क्या वे ऐसे वैसे
सिद्धहस्त थे?

हमारे उद्योग के सफल न होने का पाँचवाँ कारण यह
है कि हम अपने इष्टफल के अनुसार उद्योग नहीं करते
हैं। अर्थात् इष्टफल-प्राप्ति के लिये जितना उद्योग होना
चाहिये उतना नहीं करते हैं। यहाँ एक छोटासा उदाहरण
दिया जाता है। जैसे हमको दस दिन में पचास पृष्ठ की
एक पोथी को कण्ठ करके सुनाना है, तो उसके पाँच
पाँच पृष्ठ नित्य कण्ठ करने से काम नहीं चल सकता है।
क्योंकि हमको उस पोथी के इतने पृष्ठ नित्य कण्ठ करने
चाहिये, कि एक बार सारी पोथी को कण्ठ कर लेने के
पीछे इतना समय हमें और मिले कि हम समस्त पोथी
को एक दो बार दुहरा सकें। हम यही समझ बैठते हैं कि
[illegible] पूरा है और इसी भूल में पड़ कर हम उतने
[illegible] पर सन्तोष कर लिया करते हैं, जिससे अवधि
[illegible] जाती है और काम अधूरा ही रह जाता है।

हमारे उद्योग के सफल न होने का छठवाँ कारण यह है कि हम जिस काम में हाथ डालते हैं, उसको हृदय से नहीं चाहते। केवल लोकरीति मान कर उसको किया करते हैं। जैसे कोई पण्डित देशाटन कर रहा है और किसी देश में उसके मित्र ने कहा-"पण्डितजी महाराज! आपका धर्म्मोपदेश यहाँ हो जाय तो क्या अच्छा हो!" पण्डितजी उत्तर देते हैं-"विचार तो हमारा आगे जाने का था, पर आप लोग कहते हैं तो वैसा ही किया जायगा।" कहिये क्या इन पण्डितजी के धर्म्मोपदेश से लोगों में धर्म्म की रुचि बढ़ेगी? चाहे वे उपदेश देते देते बकवृत्ति धारण कर लें या रोने ही क्यों न लग जाँय, पर श्रोताओं की धर्म्म में कुछ भी रुचि नहीं हो सकती है अथवा हो भी तो मण्डप के बाहर निकलते ही तुम तुम्हारे और हम हमारे-मानो उपदेश दिवास्वप्न था। इसका कारण यही है कि पण्डितजी का मन तो दूसरे देश में है। फिर उनका दिया उपदेश क्या धूल रुचि बढ़ावे? चित्त से चाहने वाले मनुष्य के शब्द ही कुछ और होते हैं।

एक दुखिया भक्त सच्चे मन से स्तुति कर रहा है और एक कवि अपने ग्रन्थ में आये हुए नायक की भगवद्स्तुति का वर्णन कर रहा है-क्या इन दोनों स्तुतियों में भेद नहीं होगा? सच्चे भक्त की स्तुति से प्रत्येक मनुष्यों के कण्ठावरोध आदिक भक्ति के लक्षण होवेंगे। पर कवि की स्तुति को लोग केवल यों कह कर ही सराहेंगे कि क्या अच्छी कविता है। जिस काम को किया उसको जी से चाहा। इस गुण वाले बुद्धदेव

और शङ्कराचार्य थे। पहले ने अपना मत फैलाने के राज्याधिकार, राजप्रासाद, सुन्दरी स्त्री और बालक, धन और समस्त सुखों को तिलाञ्जलि दे दी चित्त से चाह कर ऐसा उद्योग किया कि आज उ मत को सारी मनुष्य जाति का चौथा भाग मानता दूसरे ने बत्तीस वर्ष ही की अवस्था पाने पर भी प पुरुषसिंह के मत को भारत से उखाड़ कर नास्ति देश को आस्तिक कर दिया। बड़े अचम्भे की बा तो यह है कि जिस बौद्ध धर्म का अन्याय बाहिर देशों में उदय हुआ, उसकी जन्मभूमि भारत में उस का चिह्न भी नहीं रहने दिया। फिर ऐसा पुरुषसिंह क्यों न भगवान् कहलाने के योग्य हो? धन्य है इस पुरुषसिंह को जिसके ऋण से भारत कभी उऋण नहीं हो सकता। इन दोनों महात्माओं के इतने बड़े भारी उद्योग में सफल होने का कारण केवल यही था कि इन्होंने जिस काम को किया उसको जी से चाहा। कभी कभी यह भी होता है कि मनुष्य का पूरा उद्योग होने पर भी सफलता नहीं होती है। जैसे पुरू राजा की सिकन्दर से, लाहौर के राजा अनङ्गपाल की महमूद ग़ज़नवी से, दिल्लीपति महाराज पृथिवीराज की मोहम्मदग़ोरी से, राना साङ्गा की बाबर से और मरहट्टों की अहमदशाह अब्दाली से लड़ाई। इन लड़ाइयों में हिन्दुओं का उद्योग इतना पूरा था कि ईश्वर यदि कुछ भी अनुकूल होता, तो शत्रुपक्ष समूल नष्ट हो जाता। पर घर की फूट और ईश्वर के कोप आदि विघ्नों ने उद्योग को फलने न दिया। ऐसी

कुछ भी यश नहीं है। यहाँ "यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः" ही पर सन्तोष करना चाहिये। ऐसी दशा में सफल न होने वाले पुरुषसिंहों के प्रति हम लोगों की भक्ति रहती है और विघ्न करने वाले नीचों के प्रति हमारे चित्त में घृणा उत्पन्न होती है।

इस लेख का सारांश यह है कि हम सब भाँति योग्य हों, और आलस छोड़ और चित्त मन देकर चुपचाप उत्साह और पूरे उद्योग से अपने वित्तभर काम में लगें, जिससे जयलक्ष्मी हमारे ही आगे नाचा करे।

[श्रीरामचन्द्र से

मत्स्याहारी वनस्पति।

[श्रीयुत यशोदानन्दन अस्थाना द्वारा लिखित]

यह वनस्पति इस देश में आज तक नहीं पाई है, इसलिये इसको इस देश में क्या क हैं, सो हम नहीं जानते। हम यहाँ अ ओर से एक कल्पित नाम, "मत्स्याहारी वनस्पति" रख इसका परिचय देते हैं।

यह पौधा यूट्रिकयूलेरिया (Utricularia) जाति का यूट्रिकयूलेरिया शब्द लैटिन भाषा का है। लैटिन में यू कयूलस (Utriculus) का अर्थ कोषा है और कोषा या वनस्पतियों का नाम यूट्रिकयूलेरिया है। इस जाति के जि पौधे का वर्णन यहाँ किया जाता है वह मछली आदि को

---

१ जल के समान एक वैसी, अथवा मिट्टी द्वारा बनाये बर्तन की वैसे वस्तु की एक वस्तु।

छोटे जलजन्तुओं को खा जाता है। पत्तियों और कोषों के बढ़न रङ्ग और रूप की भिन्नता से इसमें अनेक भेद हैं।

योरप और अमेरिका के कई स्थानों में ये ताल में बहुतायत से उपजते हैं। इनकी पत्तियाँ पानी के भीतर रहती हैं। इन्हींमें से फूल निकलते हैं। इसके और और अंश पानी के ऊपर फैले रहते हैं। इसका आधा भाग तो पानी के भीतर और आधा बाहर रहता है। पत्तियों के ऊपर पानी के बबूले या मछली के अण्डों की तरह एक प्रकार के पानी से भरा हुआ पदार्थ होता है। ऊपर कहे गये कोषे का आकार वृक्ष के प्रकार भेद से कई प्रकार का होता है। किसी किसी के कोषे अमरूद के बराबर बड़े बड़े होते हैं। यही कोषे के से पदार्थ कीड़े और मछलियों की मृत्यु के द्वार स्वरूप हैं। कोषे के पतले भाग की ओर एक मुँह रहता है। मुँह के बाहर चारों ओर रोंगटे वाले कीड़ों की भाँति पतले बाल के तुल्य काँटे होते हैं; जिनसे मुँह ढका रहता है। मुँह के पीछे चूहा पकड़ने के पिञ्जड़े के दरवाज़े के समान एक किवाड़ा सा सटा रहता है, जो ज़रा धक्का देने से खुल जाता है; परन्तु भीतर की वस्तु लाख सिर पटकने पर भी, द्वार खोल कर बाहर नहीं निकल सकती। यह किवाड़ इतना पतला और स्वच्छ होता है कि कोषे का भीतर का पानी बाहर से स्पष्ट देख पड़ता है। डारविन साहब कहते हैं कि इसी उज्ज्वलता से

मोहित होकर कीट-पतङ्गादि खिंच कर इसमें
जाते हैं। जो हो और जैसे हो, पानी के छो
ज्यों ही उस मुँह के पास आते हैं त्यों ही या
काँटों के द्वारा खिंचकर ये कोषे के मुँह के भ
और सहज ही में चले जाते हैं।

पहले लोग समझते थे कि उक्त कोषे में वायु
से यह पानी पर उतराया करता है; परन्तु अब य
करने पर यह निश्चय हो गया है कि कोषे में प
रहता है। आज कल के उद्भिद्विद्या के पण्डितों ने
निश्चय किया है कि यह कोषा केवल वृक्ष के ऊप
को पानी पर उठाये रहने ही का काम नहीं करता
इससे और और काम भी निकलते हैं। यही कोष
पौधे का पाकयन्त्र और खाने की चीज़ों के पकड़ने के
जाल का काम करता है। मछली के अण्डे और कीट-प
आदि जीव अकस्मात् आकर इस कोषे में चले जाते
अमेरिका के ट्रीट साहब और योरप के डारविन तथा अ
और पण्डितों ने बहुत परीक्षा करके यह ठहराया है कि
कार्प (Carp) नाम की मछलियों के अण्डे इसके भोजन
की विशेष वस्तु है। इसीसे जिस तालाब में ये पौधे पैदा
होते हैं उसमें कार्प मछलियाँ बहुत कम रहती हैं। कीट-
पतङ्ग आदि जब कोषे में घुस जाते हैं

अम्लजान वायु के न रहने से दम घुट कर मरजाते हैं। उनकी मृतदेह इस पौधे के उदरस्थ पाचक रस के द्वारा जल का रूप धारण कर इसकी पुष्टि करती है।

पाठक! ऐसे ही विषय-ऐसी ही सब कौतूहल बढ़ाने वाली विलक्षण बातें और ऐसे ही अन्य सब अनोखे पदार्थों का अनुसन्धान जगत्कर्ता के विषय में एक प्रकार का विस्मयपूर्ण कृतज्ञभाव हृदय में उत्पन्न करता है। देखिये तो कैसे कौशल से आपस में वनस्पति जीवों के और जीव वनस्पतियों के भोजन की सामग्री बन कर एक दूसरे की शरीर-पुष्टि द्वारा सृष्टि की संरक्षा करते हैं। अहा! जगदीश्वर एक के परमाणु दूसरे में मिला कर क्या ही आश्चर्य खेल खेल रहे हैं।

[सरस्वती से

प्रार्थना।

[सूरदास * विरचित " सूरसागर " से]

[राग—कल्पद्रुम]

वन्दौं श्री हरिपद सुखदाई।
ाकी कृपा पङ्गु गिरि लंघै अँधरे को सब कछु दरसाई॥
हिरो सुनै गूँग पुनि बोलै रङ्क चलै सिर छत्र धराई।
रदास प्रभु की शरणागत बारं बार नमो ते पाई॥

---

* सूरदासजी का जन्म संवत् १५४० वि० में हुआ और वे सं० १६२०
वि० में गोलोकवासी हुए। ये परम कृष्णभक्त वैष्णव थे और वल्लभाचार्य
के शिष्य थे। इनकी गणना अष्टछाप के कवियों में है। इनके पिता का
नाम बाबा रामदास था और ये अकबर के दरबार में गायक थे। ये जाति
के ब्राह्मण थे। इनके बनाये ग्रन्थ ये हैं—१ सूरसागर, २ सूरसारावली,
३ साहित्यलहरी, (दृष्टकूट) ४ ब्याहलो और ५ नलदमयन्ती। कहा जाता
है इन्होंने सवा लक्ष पद बनाये। यह बात असम्भव नहीं है। ये कविता
में सिद्धहस्त थे। इनकी रचना की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी
है। इन्हींकी कविता के विषय में लिखा है :—

प्रार्थना।

[सूरदास * विरचित " सूरसागर " से]

[राग—कल्पद्रुम]

वन्दौं श्री हरिपद सुखदाई।
जाकी कृपा पङ्गु गिरि लंघै अँधरे को सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै गूँग पुनि बोलै रङ्क चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास प्रभु को शरणागत बारं बार नमो ते पाई॥

---

* सूरदासजी का जन्म सवत् १५४० वि० में हुआ और वे स० १६२० वि० में गोलोकवासी हुए। ये परम कृष्णभक्त वैष्णव थे और वल्लभाचार्य के शिष्य थे। इनकी गणना अष्टछाप के कवियों में है। इनके पिता का नाम बाबा रामदास था और ये अकबर के दरबार में गायक थे। ये जाति के ब्राह्मण थे। इनके बनाये ग्रन्थ ये हैं—१ सूरसागर, २ सूरसारावली, ३ साहित्यलहरी, (दृष्टकूट) ४ ब्याहलो और ५ नलदमयन्ती। कहा जाता है इन्होंने सवा लक्ष पद बनाये। यह बात असम्भव नहीं है। ये कविता में सिद्धहस्त थे। इनकी रचना की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इन्हींकी कविता के विषय में लिखा है :—

[राग-कान्हरा]

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै सो पावै॥
रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै॥

श्रीकृष्ण-प्रतिज्ञा।

[राग-बिलावल]

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परितिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे॥
भक्तन काज लाज हिय धरिकै पाँव पियादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ॥
जो मम भक्त सों बैर करत है सो निज बैरी मेरो।
देखु विचार भक्त-हित-कारण हाँकत हौं रथ तेरो॥
सौं हार भक्त अपने की जीतें जीत विचारौं।
दास जो भक्तविरोधी चक्र सुदर्शन मारौं॥

दोहा।

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करहिं प्रकास॥
तत्त्व तत्त सूरा कही, तुलसी कही अनूठ।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठ॥
कीधौं सुर को सर लग्यो, कीधौं सुर की पीर।
कीधौं सुर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर॥
दोहा तानसेन कथित है।

भीष्म-प्रतिज्ञा।

[राग-मलार]

आज जो हरिहि न सस्त्र गहाऊँ।
तौलौं हौं गङ्गा जननी को सान्तनुसुत न कहाऊँ
स्यन्दन खण्ड महारथ खण्डौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ
इती न करौं सपथ मोहिं हरि की क्षत्रिय गतिहि न पाऊँ
पाण्डवदल सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ
सूरदास रनभूमि विजय बिनु जियत न पीठ दिखाऊँ

सन्त-महिमा।

[राग-बिलावल]

जा दिन सन्त पाहुने आवत।
तीरथ कोटि अन्हान करें फल जैसो दरसन पावत
नेह नयो दिन दिन प्रति उनको चरन कमल चित लावत
मन बच कम औरन नहिं जानत सुमिरत औ सुमिरावत
मिथ्यावादि उपाधि रहित ह्वै बिमलि बिमलि जस गावत
बन्धन करम कठिन जो पहिले सोऊ काटि बहावत

चेतावनी।

[राग-सारङ्ग]

तजौ मन हरि बिमुखन को सङ्ग।
जाके सङ्ग कुबुधि उपजत है परत भजन में भङ्ग
कहा होत पय पान कराये बिष नहिं तजत भुजङ्ग
कागहि कहा कपूर चुगाये स्वान नहाये गङ्ग
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अङ्ग

गज को कहा नहवाये सरिता, बहुरि धरै खहि छङ्ग॥
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषङ्ग।
सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रङ्ग॥

युधिष्ठिर प्रति भीष्मोपदेश।

[राग-बिलावल]

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ।
हरि-चरनार-विन्द उर धरौ॥
भारत-युद्ध होइ जब बीता।
भयो युधिष्ठिर अति भयभीता॥
कुरु-कुल-हत्या मोंते भई।
धौं अब कैसे करि है दई॥
करौ तपस्या पाप निवारौं।
राजछत्र नाहीं सिर धारौं॥
लोगन तिहि बहुविधि समझायो।
पै तिहि मन सन्तोष न आयो॥
तब हरि कह्यो टेक परिहरौ।
भीष्मपितामह कहै सु करौ॥
हरि पाण्डव रन-भूमि सिधाए।
भीषम देखि बहुत सुख पाए॥
हरि कह्यो राज्य न करत धर्म-सुत।
कहत हते भये भ्रात भ्रात-सुत॥
गुरुहत्या मोंते है आई।
कहौ सुगुरु कौन उपाई॥
राजधर्म भीषम तब गायो।
दान आपदा मोक्ष सुनायो॥

पै नृप को सन्देह न गयो।
तब भीषम नृप सौं पुनि कह्यो॥
धर्मपुत्र तू देख विचार।
कारन करनहार करतार॥
नर के किए कछू नहिं होई।
करता हरता आपुहि सोई॥
ताको सुमिरि राज्य तुम करौ।
अहङ्कार चित ते परिहरौ॥
अहङ्कार किये लागत पाप।
सूरस्याम भजि मिटै सन्ताप॥

[राग-धनाश्री]

करी गोपाल की सब होई।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोई॥
साधन मंत्र जंत्र उद्यम बल यह सब डारहु धोई।
जो कछु लिखि राखी नँदनन्दन मेटि सकै नहिं कोई॥
दुख सुख लाभ अलाभ समुझि तुम कहत मरत हौ रोई।
"सूरदास" स्वामी करुनामय स्यामचरन मन पोई॥

[राग-सारङ्ग]

भावी काहू सों न टरै।
कहाँ वह राहु कहाँ वह रवि-ससि आनि संयोग परै॥
मुनि वसिष्ठ पण्डित अतिज्ञानी रचि पचि लगुन धरै।
तात मरन सिय हरन राम बन बपु धरि बिपति भरै॥
रावण जीति कोटि तेतीसो त्रिभुवन राज्य करै।
मृत्यु बाँधि कूप में राखै भावीवस सिगरै॥
अर्जुन के हरि हित सारथी सोऊ बन निकरै।

द्रुपद-सुता के राज-सभा दूसासन चीर हरै॥
हरीचन्द सो को जगदाता सो घर नीच परै।
जो घर छाँड़ि देश बहु धावै तऊ सो सङ्ग फिरै॥
भावी के बस तीन लोक है सुर नर देह धरै।
सूरदास प्रभु रची सु है है क्यों करि सोच मरै॥

[राग-कान्हरा]

तातें सेइय यदुराई।

संपति विपति विपति सों संपति, देह धरेको यहै सुभाई।
तरुवर फूलै फलै परिहरै अपने कालहिं पाई
सरवर नीर भरै पुनि उमड़ै सूखे खेह उड़ाई।
द्वितिय चन्द्र बाढ़त ही बाढ़ै घटत घटत घटि जाई।
सूरदास संपदा आपदा जिन कोई पतिआई॥

[मलार]

इहि विधि कहा घटैगो तेरो।

नंदनंदन करि घर को ठाकुर आपुन है रहु चेरो॥
कहा भयो जो संपति बाढ़ी कियो बहुत घर घेरो।
कहुँ हरिकथा कहुँ हरिपूजा कहुँ संतनि को डेरो॥
जो वनिता सुत यूथ सकेलै हैंगे रथनि घनेरो।
सब तज सुमिरन सूरदास गुन यहै साँच मत मेरो॥

रास पञ्चाध्यायी।

[कविवर नन्ददासजी*विरचित]

वन्दन करौं कृपानिधान श्रीशुक शुभकारी।
शुद्ध ज्योतिमय रूप सदा सुन्दर अविकारी॥
हरिलीला रस मत्त मुदित नित विचरत जग में।
अद्भुत गति कतहूँ न अटक है निकसत मग में॥
नीलोत्पलदल श्याम अङ्ग नव जोवन साजै।
कुटिल अलक मुखकमल मनो अलि अवलि विराजै॥
ललित विशाल सुभाल दिपति जन निकर निसाकर।
कृष्णभगति प्रतिबन्ध तिमर कहँ कोटि दिवाकर॥
कृपा रङ्ग रस ऐन नैन राजत रतनारे।

---

* इनका जन्म सं० १५८५ वि० में हुआ था। ये अष्टछाप के प्रसिद्ध महाकवियों में से एक हैं। इनके बनाये ग्रन्थ ये हैं:—१ नाममाला, २ अनेकार्थ, ३ पञ्चाध्यायी, ४ रुक्मिणीमङ्गल, ५ दशमस्कन्ध, ६ दान-लीला, ७ मानलीला और ८ मानसमञ्जरीकोष। इनके अतिरिक्त इनके अनेक पद भी बनाये हुए पाये जाते हैं। इनके विषय में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—"और सब गड़िया नन्ददास जड़िया।"

कृष्णरसासव पान अलस कछु घूम घुमारे॥
उन्नत नासा अधर बिम्ब शुक की छवि छीनी।
तिन मह अद्भुत भाँति जु कछुक लसति मसि भीनी॥
श्रवण कृष्ण रस भवन गण्ड मण्डल भल दरसै।
प्रेमानन्द मिलिन्द मन्द मुसकनि मधु बरसै॥
कम्बुकण्ठ की रेख देखि हरि धरमु प्रकाशै।
काम क्रोध मद मोह लोभ जिहि निरखत नाशै॥
उरुवर पर अति छवि को भीर कछु बरन नहिं जाई।
जिहि भीतर जगमगत निरन्तर कुँअर कन्हाई॥
सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजति भारी।
हियो सरोवर रस भरि चली मनो उमगि पनारी॥
जिहि रस की कुण्डिका नाभि अस शोभित गहरी।
त्रिवली तामहँ ललित भाँति मनु उपजत लहरी॥
गूढ़ जानु आजानुबाहु मद गजगति लोलैं।
गङ्गादिकन पवित्र करन अवनी पर डोलैं॥
जब दिनमनि श्रीकृष्ण दृगन तें दूर भये दूरि।
पसरि पर्यो अँधियार सकल संसार घुमड़ि घोरि॥
तिमिर ग्रसित सब लोक ओक लखि दुखित दयाकर।
प्रकट कियो अद्भुत प्रभाव भागवत दिवाकर॥
ताहूँ में पुनि अति रहस्य यह पञ्चाध्यायी।
तन महँ जैसे पञ्चप्राण अस शुकमुनि गायी॥
परम रसिक इकमीत मोहि तिहि आज्ञा दीन्हीं।
तातें मैं यह कथा यथामति भाषा कीन्हीं॥
अब सुन्दर श्रीवृन्दावन गुन गाइ सुनाऊँ।
सकल सिद्ध दायक नायक पै सब सिधि पाऊँ॥
श्रीवृन्दावन चिद्घन कछु छवि बरनि न जाई।

कृष्ण ललित लीला के काज गहि रह्यो जड़ताई ॥
पुनि तहँ खग मृग कुञ्जलता वीरुध तृन जेते।
नहि न काल गुन प्रभा सदा सोभित रहै तेते ॥
सकल जन्तु अविरुद्ध जहाँ हरि मृग सँग चरहीं।
काम क्रोध मद लोभ रहित लीला अनुसरहीं ॥
सब दिन रहत बसन्त कृष्ण अवलोकनि लोभा।
त्रिभुवन कानन जा विभूति करि सोभित सोभा ॥
ज्यों लक्ष्मी निज रूप अनूपम पद सेवित नित।
भू विलसत जु विभूति जगत जगमग रही जित कित ॥
श्री अनन्त महिमा अनन्त को बरनि सकै कवि।
सङ्करपन सों कछुक कही श्रीमुख जाकी छवि ॥
देवन में श्री रमारमन नारायन प्रभु जस।
बन में वृन्दाबन सुदेस सबदिन सोभित अस ॥
या बन की बर बानिक या बन ही बन आवै।
सेस महेस सुरेस गनेस न पारहिं पावै ॥
जहँ जेतक द्रुमजात कल्पतरु सम सब लायक।
चिन्तामणि सम सकल भूमि चिन्तित फलदायक ॥
तिन महँ इक जु कल्पतरु लगि रही जगमग ज्योती।
पात मूल फल फूल सकल हीरा मनि मोती ॥
तहँ मुतियन के गन्ध लुब्ध अस गान करत अलि।
बर किन्नर गन्धर्व अपच्छर तिन परे कीनै बलि ॥
अमृत फूही सुख गुही अति सुही परत रहत नित।
रास रसिक सुन्दर पिय को श्रम दूर करन हित ॥
बासुर तरु मह और एक अद्भुत छवि छाजै।
साखा दल फल फुलनि हरि प्रतिबिम्ब बिराजै ॥
ता तरु कोमल कनकभूमि मन में मोहत मनु।

दिखियतु सब प्रतिबिम्ब मनी घर मह दूसर बन॥
जमुनाजू अति प्रेम भरी नित बहै सुगहरी।
मनि मण्डित महिमाहँ दौरि जनु परसत लहरी॥
तहँ इकु मनिमय अङ्क चित्र को सङ्ग सुभग अति।
तापर षोडश दल सरोज अद्भुत चक्राकृति॥
मधि कमनीय करिनिका सब सुख सुन्दर कन्दर।
तहँ राजत ब्रजराज कुँअर वर रसिक पुरन्दर॥
निकर विभाकर दुति मेटत सुभ मनि कौस्तुभ अस।
सुन्दर नन्दकुँअर उर पर सोई लागति उड़ जासि॥
मोहन अद्भुत रूप कहि न आवत छवि ताकी।
अखिल खण्ड व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी॥
परमातम धरमी कर सब के अन्तरजामी।
नारायन भगवान धरम करि सब के स्वामी॥
बालु कुमार पौगण्ड धरम आक्रान्त ललित तन।
धरमी नित्य किसोर कान मोहत सब को मन॥
अस अद्भुत गोपाल लाल सब काल बसत जहँ।
याही ते बैकुण्ठ विभव कुण्ठत लागत तहँ॥
या बन की वर थानक या बन ही बन आवै।
सेस सुरेस महेस गनेस न पारहिं पावै॥

रामवनगमन ।

[गो० तुलसीदासजी * कृत]

सवैया ।

कीर के कागर ज्यों नृप चीर,
विभूषन उप्पमा अंगनि लाई ।
औध तजी मग चाल के रूख ज्यों,
पन्थ के साथ ज्यों लोग लुगाई ॥

---

* तुलसीदासजी का जन्म सं० १६०१ वि० को और मृत्यु सं० १६८० वि० में हुई । ये श्री वैष्णव थे । इनको लोग सरवरिया ब्राह्मण बतलाते हैं । कहा जाता है कि इनके पिता का आत्माराम और माता का नाम हुलसी था । कोई तो इनका जन्म हस्तिनापुर में और कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर में बतलाते हैं । सर्वसाधारण का विश्वास है कि गुसाईंजी का जन्मस्थान चाँदा जिले के अन्तर्गत राजापुर ग्राम है । इनके बनाये ग्रन्थ ये हैं :—

१ रामचरित मानस या रामायण २ कवितावली ३ दोहावली ४ विनयपत्रिका ५ बरवा रामायण ६ हनुमानबाहुक आदि ।

सङ्ग सुबन्धु पुनीति प्रिया,
मनो धर्मक्रिया धरि देह सुहाई।
राजिव-लोचन राम चले,
तजि बाप को राज बटाऊ कि नाई॥ १॥
कागर कीर ज्यों भूषन चीर,
शरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु पिता प्रिय लोग सबै,
सनमानि सुभाइ सनेह सगाई॥
सङ्ग सुभामिनि भाइ भलो,
दिन द्वै जन औधहुँ ते पहुनाई।
राजिव-लोचन राम चले,
तजि बाप को राज बटाऊ कि नाई॥ २॥

घनाक्षरी।

सिथिल सनेह कहैं कौशिला सुमित्रा जू सों,
मैं न लखी सौति सखी भगनी ज्यों सेई है।
कहैं मोहि मैया कहौं मैं न मैया भरत की,
बलैया तेहौं भैया तेरी मैया कैकेई है॥
तुलसी सरल भाय रघुराय माय माँनी,
काय मन बानी हूँ न जानि कै मतेई है।
बाम बिधि मेरो सुख सिरिससुमन सम,
ताको छल छुरी कोट कुलिस ले टेई है॥ ३॥
कीजै कहा जीजीजू सुमित्रा परि पाँय कहै,
तुलसी सहावै बिधि सोई सहियतु है।
रावरो सुभाय राय जन्म ही ते जानियत,
भरत की मातुकी कीबो सो चहियतु है॥

जाई राजघर ब्याहि आई राजघर,
महाराज पूत पाए हूँ न सुख लहियतु है।
देह-सुधा गेह ताहि मग ने मलीन कियो,
ताहू पर चाहु बिनु राहु गहियतु है ॥ ४ ॥

[श्रीरामचन्द्रजी गङ्गा के किनारे पर उतरने को खड़े हैं]

सवैया।

नाम अजामिल से खल कोटि,
अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि मेरुसिला,
कन होत अजा खुर बारिधि बाढ़े ॥
'तुलसी' ज्यहि के पदपङ्कज ते,
प्रकटी तटिनी जो हरे अघ गाढ़े।
ते प्रभु या सरिता तरिबे कहँ,
माँगत नाव करार है ठाढ़े ॥ १ ॥
इहि घाट तें थोरिक दूरि अहै,
कटिहौं जल थाह दिखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी,
घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ॥
'तुलसी' अवलम्ब न और कछू,
लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिये मोहि, बिना पगधोए,
हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥ २ ॥
बावरे दोष न पावन को,
पगधूरि को भूरि प्रभाव महा है।

पाहनते घरु वाहन काठ को,
कोमल है जल खाइ रहा है॥
'तुलसी' सुनि केवट के वर बैन,
हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है।
पायन पाय पखारि के नाव,
चढ़ाइ हौं आयसु होत कहा है॥ ३॥

घनाक्षरी।

पातभरी सहरी सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछु वेद न पढ़ाइ हौं।
सब परिवार मेरी याहि लागि राजा जी हौं,
दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइ हौं॥
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वैके बाद न बढ़ाइ हौं।
तुलसी' के ईस राम रावरे से साँची कहौं,
बिना पग धोये नाथ नाव ना चढ़ाइ हौं॥ ४॥
जिनको पुनीत बारि शिर शिव है पुरारि,
त्रिपथगामिनी अस वेद कहै गाइ कै।
तिनको जोगीन्द्र मुनिवृन्द देव देह धरि,
करत विविध जोग जप मन लाइ कै॥
तुलसी' जिनकी धूरि परसि अहिल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।
हे पाँय पाइ कै चढ़ाय नाव धोये बिनु,
खेहौं न पठावनी कहै हौं न हँसाइ कै॥ ५॥
तु रुख पाइ कै बुलाई बालक घरनिहिं,
बन्दि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि घेरि।

छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गङ्गाजू को,
धोइ पाँय पियत पुनीत बारि फेरि फेरि॥
'तुलसी' सराहे ताको भाग सानुराग सुर,
बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि।
बिबिधि सनेह सानी बानी असयानी सुनि,
हँसि राघौ जानकी लषन तन हेरि हेरि॥६॥

सवैया।

पुर तें निकसी रघुबीर बधू,
धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जलकी,
पट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिर बूझत हैं चलनो घ कितो,
पिय पर्नकुटी करिहैं कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥ ७॥
जल को गए लक्ष्मण हैं लरिका,
परखौं पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेऊ बयारि करौं,
अरु पाँय पखारि हौं भूभरि डाढ़े॥
'तुलसी' रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै,
बैठि बिलम्ब सों कण्टक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो,
पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥ ८॥
ठाढ़े हैं नील द्रुम डार गहीं,
धनु काँधे धरे कर सायक लै।

विकटी भृकुटी बड़री अँखियाँ,
अनमोल कपोलन की छवि है॥
'तुलसी' अस मूरति आन हिये,
जड़ डारु धौं प्रान निछावर कै।
धन सीकर साँवरि देह लसैं,
मनौ रारि महातम तारक मैं॥९

घनाक्षरी।

जलज नयन जलजानन जटा हैं सिर,
जोबन उमङ्ग अङ्ग उदित उदार हैं।
साँवरे गोरे बीच भामिनी सुदामिनी सी,
मुनिपट धरे उर फूलन के हार हैं॥
करनि सरासन सिलीमुख निषङ्ग कटि,
अतिही अनूप काहू भूप के कुमार हैं।
'तुलसी' बिलोकि के तिलोक के तिलक तीनि,
रहे नर नारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं॥१०॥
आगे सोहै साँवरो कुँअर गोरो पाछे आवै,
आयो मुनिवेष धरे लाजत अनङ्ग है।
बान बिसिखासन बसन बन ही के कटि,
कसी है बनाइ भाँति राजत निषङ्ग है॥
साथ निरिनाथ सुखी पाय साथ नन्दिनी सी,
'तुलसी' बिलोकि चित लाइ मेन गङ्ग है।
आनँद उमङ्ग मन जोबन उमङ्ग तन,
रूप की उमङ्ग उमगत अङ्ग अङ्ग है॥११॥
सुन्दर बदन सरसीरुह सुहाये नैन,
मञ्जुल प्रसून माथ मुकुट जटनि के।

अंसनि सरासन लसत सुचि सरकर,
तून कटि मुनिपट लूट कपटनि के॥
नारि सुकुमारि सङ्ग जाके अङ्ग उबटिके,
विधि विरचे बरुथ विद्युत छटनि के।
गोरे को बरन देखे सोनो न सलोनो लागे,
साँवरो विलोकै गर्व घटत घटनि के॥ १२॥
बलकल बसन धनु बान पानि तून कटि,
रूप के निधान घन दामिनी बरन हैं।
'तुलसी' सुतीयसङ्ग सहज सुहाये अङ्ग,
नवल कमल हूँ ते कोमल चरन हैं॥
और सो बसन्त औरे रति औरे रतिपति,
मूरति विलोके तन मन के हरन हैं।
तापस बेष बनाये पथिक पन्थे सुहाये,
चले लोक लोचननि सुफल करन हैं॥ १३॥

सवैया।

बनिता बनी श्यामल गोरे के बीच,
विलोकहु री सखि मोहिसी है।
मग जोग न कोमल क्यों चलि हैं,
सकुचात मही पद पङ्कज छै॥
'तुलसी' सुनि ग्रामवधू बिथकीं,
पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप,
अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥ १४॥
साँवरे गोरे सलोने सुभाय,
मनोहरता जित मैन लियो है।

बान कमान निषङ्ग कसे,
सिर सोहैं जटा मुनि वेष किये।
सङ्ग लिये विधुबैनी वधू,
रति को जेहि रञ्चक रूप दिये।
पाँयन ता पनही न पयादेहि,
क्यों चलि हैं सकुचात हियो।
रानी मैं जानी अजानी महा,
पिय पाहन हूँ ते कठोर हियो।
राजहु काज अकाज न जान्यो,
कह्यो तिय को जेहिं कान कियो है।
ऐसी मनोहर मूरति ये,
बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि राखिबे जोग,
इन्हें किमि कै बनवास दियो है॥
सीस जटा उर बाहु बिसाल,
बिलोचन लाल तिरौंछी सी भौंहैं।
तून सरासन बान धरे,
'तुलसी' बन मारग में सुठि सोहैं॥
सादर बारहिं बार सुभायँ,
चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूँछति ग्रामवधू सिय सों,
कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैं॥ १७॥
सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने,
सयानी है जानकी जान भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं

'तुलसी' तेहि औसर सोहै सबै,
अवलोकत लोचन लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै,
बिकसी जनु मञ्जुल कुन्दकली॥ १८॥

उत्तर काण्ड से उपदेश।

सुनहु तात यह अकथ कहानी।
समुझत बनै न जात बखानी॥
ईश्वर अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गुसांई।
बँध्यो कीर मरकट की नांई॥
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परिगई।
जदपि मृषा, छूटत कठिनई॥
तब तें जीव भयो संसारी।
ग्रन्थि न छूट न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहै उपाई।
छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीव हृदय तम मोह विसेखी।
ग्रन्थि छुटै किमि परै न देखी॥
अस 'संजोग ईस' जब करई।
तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।

जो हरि कृपा हृदय बस आई॥
जप तप संयम नियम अपारा।
जो श्रुति कहै सुधर्म अचारा॥
सो तृन हरित चरै जब गाई।
भाव बत्स सिसु पाइ पन्हाई॥
होइ निवृत्त पाइ विश्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई।
अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै।
धृति सम जावन देइ जमावै॥
मुदिता मथै विचार मथानी।
दम अधार रज सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
विमल विराग सुभग सुपुनीता॥

दोहा।

जोग अग्नि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत, ममता मल जरिजाइ॥
तब विज्ञान निरूपिनी, बुद्धि विसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दिअटि बनाइ॥
तीन अवस्था तीन गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करै सुगाढ़ि॥

सोरठा।

एहि विधि लेसै दीप, तेजरासि विज्ञान मय।
जातहिं तासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥

चौपाई।

सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा।
दीप सिखा सोइ परम प्रचण्डा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।
तब भवमूल भेद भ्रमनासा॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा।
मोह आदि तब मिटै अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा।
उर गृह बैठि ग्रन्थि निरवारा॥
छोरन ग्रन्थि पाव जो सोई।
तब यह जीव कृतारथ होई॥
छोरत ग्रन्थि जानि खगराया।
विघ्न अनेक करै तब माया॥
ऋद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई।
बुद्धिहिं लोभ दिखावैं जाई॥
कल बल छल करि जाइ समीपा।
अंचल बात बुझावैं दीपा॥
होइ बुद्धि जो परम सयानी।
तिन तन चितव न अनहित जानी॥
जो जेहि विघ्न बुद्धि नहिं बाधी।
तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥
इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना।
तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभञ्जन उर गृह जाई।

तबहिं दीप विज्ञान बुझाई॥
ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा।
बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥
इन्द्रिय सुरन न ज्ञान सुहाई।
बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी।
तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥

दोहा।

तब फिर जीव बिबिध बिधि, पावे संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस॥
कहब कठिन समुझब कठिन, साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाछर न्याय जो, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

चौपाई।

ज्ञान कि पन्थ कृपान की धारा।
परत खगेस न लागे बारा॥
जो निर्बिघ्न पन्थ निर्बहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
सन्त पुरान निगम आगम बद॥
रामभक्ति सो मुक्ति गुसाईं।
मन इच्छित आपे बरिआई॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरिभक्ति बिहाई॥
अस बिचारि हरिभक्त सयाने।

मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने॥
भक्ति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिय तृप्ति हित लागी।
जिमि सो अन्न पचेउ जठरागी॥
अस हरिभक्ति सुगम सुखदाई।
को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥

दोहा।

सेवक सेव्य प्रभाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु रामपद पङ्कज, अस सिद्धान्त बिचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हिं करइ चैतन्य।
अस समरथ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य॥

चौपाई।

कहेउँ ज्ञान सिद्धान्त बुझाई।
सुनहु भक्ति मनि की प्रभुताई॥
राम भक्ति चिन्तामनि सुन्दर।
बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकास रूप दिन राती।
नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवहिं।
लोभ बात नहिं ताहि बुझावहिं॥
प्रबल अविद्या तम मिटि जाई।
हारत सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं।
बसइ भक्ति मनि जेहि उर माहीं॥

गरल सुधासम अरि हित होई।
तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी।
जेहि के बस सब जीव दुखारी॥
राम-भक्ति-मनि उर बस जाके।
दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥
चतुर सिरोमनि जे जग माहीं।
जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।
रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥
सुगम उपाइ पाइये केरे।
नर हतभाग्य देहिं भट भेरे॥
पावन पर्बत बेद पुराना।
राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी।
ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी।
पाव भक्ति मनि सब सुख खानी॥
मोरे मन प्रभु अस बिश्वासा।
राम तें अधिक रामकर दासा॥
राम सिन्धु घन सज्जन धीरा।
चन्दन तरु हरि सन्त समीरा॥
सब कर फल हरि भक्ति सुहाई।
जो बिनु सन्त न काहू पाई॥
अस बिचारि जो करइ सतसङ्गा।
राम भक्ति तेहिं सुलभ बिहङ्गा॥

दोहा ।

ब्रह्म पयोनिधि मन्दर, ज्ञान सन्त सुर आहि ।
कथा सुधा मथि काढ़इ, भक्ति मधुरता जाहि ॥
बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइय सोइ हरि भगति, देखु खगेश बिचारि ॥

चौपाई ।

पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ ।
जौं कृपालु मोहि ऊपर भाऊ ॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी ।
सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी ॥
प्रथमहिं कहहु नाथ मति धीरा ।
सबतें दुर्लभ कवन सरीरा ॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी ।
सो संक्षेपहि कहहु बिचारी ॥
संत असंत मरम तुम्ह जानहु ।
तिन्हकर सहज सुभाव बखानहु ॥
कवन पुण्य श्रुति बिदित बिसाला ।
कहहु कवन अघ परम कराला ॥
मानस रोग कहहु समुझाई ।
तुम्ह सर्बज्ञ कृपा अधिकाई ॥
तात सुनहु सादर अति प्रीती ।
मैं संक्षेप कहउँ यह नीती ॥
नर सरीर सम नहिं कवनिउँ देही ।
जीव चराचर जाचत तेही ॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी ।
ज्ञान बिराग भक्ति सुख देनी ॥

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर।
होहिं विषय रत मन्द मन्दतर॥
कञ्चन काच बदलि सठ लेहीं।
करतें डारि परस मनि देहीं॥
नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।
सन्त-मिलन सम सुख कछु नाहीं॥
पर उपकार बचन मन काया।
सन्त सुभाव सहज खगराया॥
सन्त सहहिं दुख परहित लागी।
पर दुख हेतु असन्त अभागी॥
भुरजा तरु सम सन्त कृपाला।
पर हित सह नित विपति विसाला॥
सन इव खल परबन्धन करई।
खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
अहि मूसक इव सुन उरगारी॥
पर सम्पदा विनासि नसाहीं।
जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥
दुष्ट हृदय जग आरति हेतू।
जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥
सन्त उदय सन्तत सुखकारी।
विश्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥
परम धर्म्म श्रुति विदित अहिंसा।
परनिन्दा सम अघ न गरिंसा॥
हरि गुरु निन्दक दादुर होई।
जन्म सहस्र पाव तन सोई॥

द्विज निन्दक बहु नरक भोग करि।
जग जनमइ बायस सरीर धरि॥
सुर श्रुति निन्दक जे अभिमानी।
रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥
होहिं उलूक सन्त निन्दारत।
मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत॥
सब कीं निन्दा जे जड़ करहीं।
ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥
सुनहु तात अब मानस रोगा।
जेहिंतें दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन कर मूला।
तेहिंतें पुनि उपजइ बहुसूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जो तीनिउ भाई।
उपजइ सन्निपात दुखदाई॥
विषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दद्रु कण्डु इरषाई।
हरष विषाद गरह बहुताई॥
अहङ्कार अति दुखद डमरुआ।
दम्भ कपट मद मान नहरुआ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी।
त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी॥
जुगबिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

दोहा।

एक व्याधि तें नर मरहिं, ये असाध्य बहु व्याधि।
संतत पीड़हिं जीव कहँ, सो किमि लहहि समाधि॥
नेम धर्म आचार तप, ज्ञान जज्ञ तप दान।
भेषज पुनि कोटिक करहिं, रुज न जाहिं हरियान॥

चौपाई।

इहिं बिधि सकल जीव जग रोगी।
सोक हरष भय प्रीति वियोगी॥
मानस रोग कछुक मैं गाये।
हैं सब के लखि बिरलनि पाये॥
जाने तें छीजहिं कछु पापी।
नास न पावहिं जन परितापी॥
विषय कुपथ्य पाइ अङ्कुरे।
मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥
राम कृपा नासहिं सब रोगा।
जो इहि भाँति बनइ संयोगा॥
सदगुरु बैद बचन बिश्वासा।
संजम यह न विषय की आसा॥
रघुपति भक्ति सजीवनमूरी।
अनूपान श्रद्धा मति रूरी॥
इहि बिधि भले कुरोग नसाहीं।
नाहिं तो जतन कोटि नहिं जाहीं॥
जानिय तब मन बिरुज गुसाईं।
जब उर बल बिराग अधिकाई॥
सुमति छुधा बाढ़ै नित नई।
बिषय आस दुर्बलता गई॥

विमल ज्ञान जल पाइ अन्हाई।
तब उर राम भक्ति रहि छाई॥
सिव अज सुक सनकादिक नारद।
जे मुनि ब्रह्म विचार विसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा।
करिय राम पदपङ्कज नेहा॥
श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं॥
कमठ पीठि जामहिं बरु बारा।
बन्ध्यासुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुविधि फूला।
जीव न लह सुख प्रभु प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृग-जल पाना।
बरु जामहिं ससीस बिखाना॥
अन्धकार बरु रविहिं नसावै।
राम विमुख सुख जीव न पावै॥

दोहा।

बारि मथे बरु होहि घृत, सिकता तें, बरु तेल
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल
मसकहिं करहिं विरञ्चि प्रभु, अजहिं मसकते हीन
अस विचारि तजि संसय, रामहिं भजहिं : प्रवीन

नीति के दोहे।

[बिहारीलाल चौबे * कृत।]

मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मोमन बसौ, सदा 'बिहारीलाल' ॥ १ ॥
कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच ॥ २ ॥
ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगि सतरौंहैं बैन।
दीरघ होहिं न नेकहूँ, फारि निहारे नैन ॥ ३ ॥

---

* यह जाति के माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और इनका जन्म सं० १६६० वि० में हुआ तथा मृत्यु सं० १७२० वि० में हुई। ये जयपुर के महाराज जयसिंह सवाई के दरबार में रहते थे। ये बड़े खरे और स्पष्टवक्ता थे। यद्यपि ये महाराज जयसिंह के दरबार में थे; तथापि इन्होंने महाराज की खुशामद नहीं की। इनका सबसे अपूर्व ग्रन्थ सतसई है, जो "बिहारी सतसई" के नाम से प्रसिद्ध है। लोग कहते हैं कि अक्षर कामधेनु हैं। उनमें से यथारुचि अर्थ निकल सकता है। पर इसका प्रमाण इसी ग्रन्थ में पाया जाता है। इस ग्रन्थ पर कम से कम बीस टीका पाये जाते हैं। इस ग्रन्थरत्न की प्रशंसा में नीचे लिखा पद्य प्रसिद्ध है:-

सतसइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर ॥

मीत न नीति गलीत यह, जो धरिये धन जोरि।
खाये खरचे जो बचे, तो जोरिये करोरि ॥४॥

घर घर डोलत दीन है, जन जन याचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखन, लघु पुनि बड़ो लखाय ॥५॥

को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी यों भूल।
दीन्हें दई गुलाब के, इन डारन वे फूल ॥६॥

नल की अरु नलनीर की, गति एकै कर जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय ॥७॥

बढ़त बढ़त सम्पति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत फिर ना घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ॥८॥

कर लै सूँघ सराहि कै, सबै रहे गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥९॥

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गन्धी मति अन्ध तू, अतर दिखावत काहि ॥१०॥

बड़े न हूजे गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सौं कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥११॥

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय ॥१२॥

सङ्गत सुमति न पावही, परे कुमति के धन्ध।
राखहु मेल कपूर में, हींग न होत सुगन्ध ॥१३॥

को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरङ्ग अकुलाय।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहै, त्यों त्यों अरुझतिजाय ॥१४॥

कैसे छोटे नरन तें, सरत बड़न के काम।
मढ़्यो दमामा जात क्यों, लै चूहे के चाम ॥१५॥

अति अगाध अति औथरो, नदी कूप सरवाय।
सो ता को सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय॥ १६॥

सोरठा।

मैं देख्यो निरधार, यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बत लखियत तहाँ॥ १७॥

दोहा।

दीरघ साँस न लेहि दुख, तू साँईहि न भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सुकबूल॥ १८॥
कह लाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥ १९॥
कोऊ कोरिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति यदुपति सदा, बिपति बिदारनहार॥ २०॥

श्रीछत्रसाल दसक।

[भूषन * कवि रचित]

दोहा।

इक हाड़ा बूँदी धनी, मरद महेया साल।
सालत औरंगजेब को, ये दोनों छतसाल॥
ये देखो छत्ता पता, ये देखो छतसाल।
ये दिल्ली की ढाल ये, दिल्ली ढाहन साल॥

कवित्त मनहरण।

रैया राय चम्पति को चढ़ो छत्रसाल सिंह,
भूषन भनत समसेर ओम जमकै।

* भूषन का जन्म, संवत् १६६३ में हुआ और वे संवत् १७७२ में मरे। भूषण जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और ग्राम टिकमापुर जि० कानपुर के रहने वाले थे। पहिले ये चित्रकूट वाले बलराम सोलंकी के थे, पीछे ये बादशाह औरंगजेब के यहाँ रहे। वहाँ बादशाह के रुष्ट जाने पर ये सिवाजी के यहाँ चले गये। फिर ये पन्ना के छत्रसाल के दरबारी कवि हुए और कुमाऊँ-नरेश के यहाँ गये। इन्हें "शिवा बावनी", "शिवराज भूषण", "छत्रसाल दसक" आदि अनेक ग्रन्थों की रचना है। इन जैसा वीर रस की कविता का कर्ता कवि हिन्दीसाहित्य में दूसरा नहीं हुआ।

भादों की घटा सी उठीं गरदें गगन घेरैं,
सेलैं समसेरैं फेरैं दामिनी सी दमकैं ॥
खान उमरावन के आन राजा रावन के,
सुनि सुनि उर लागै घन कैसी धमकैं।
बैहर पगारन की अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं ॥ १ ॥
है बर हरद साजि गै बर गरद सम,
पैदर के ठट्ठ फौज जुरी तुरकाने की।
भूपन भनत राय चम्पति को छत्रसाल,
रोप्यो रन ख्याल ह्वैकै ढाल हिन्दुवाने की ॥
कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे,
रंजक दगनि मानो अगिनि रिसाने की।
सैद अफगन सेन सगर सुतन लागी,
कपिल सराप लौं तराप तोपखाने की ॥ २ ॥
दारा साहि नौरँग जुरे हैं दोऊ दिली दल,
एकै गये भाजि एकै गये रुंधि चाल मैं।
बाजी कर कोऊ दगाबाजी करि राखा जेहिं,
कैसेहू प्रकार प्रान बचत न काल मैं ॥
हाथी ते उतरि हाड़ा जूझो लोह लंगर दै,
एती लाज कामैं जेती लाज छत्रसाल मैं।
तन तरवारिन मैं मन परमेसुर मैं,
प्रान स्वामि-कारज मैं माथो हरमाल मैं ॥ ३ ॥
अस्त्र गहि छत्रसाल खिझ्यो खेत घेतवै के,
उत ते पठानन हू कीन्हीं झुकि झपटैं।
हिम्मति बड़ी के गबड़ी के खिलवारन लौं,
देन सै हजारन हजार बार चपटैं ॥

भूपन भनत काली दुलही असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति जोर जपटैं।
समर सों समर को संना त्यों पुंडेलन को,
सेलैं समसेरैं मैं पाइय की लपटैं ॥४॥
चले चन्द्रबान घनबान औ कुठकबान,
चलत कमान धूम आसमान छ्वै रहो।
चली जमदाढ़ै बाढ़ बारैं तरवारैं जहाँ,
लोह औन जेठ के तरनि मान ह्वै रहो॥
ऐसे समै फौजे पिचलाई छत्रसाल सिंह,
अरि के चलाये पायँ योर रस च्वै रहो।
हय चले हाथी चले संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली में अचल हाड़ा ह्वै रहो॥५॥
निकसत म्यान ते मयूख प्रलय भानु कैसी,
फारैं तम तोम से गयन्दन के जाल को।
लागत लपटि कंठ बैरिन के नागिनि सी,
कुद्धहि रिझावै दै दै मुंडन के माल को॥
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहां लौं बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को॥६॥
रहत अछक पै मिटै न धक पीवन की,
निपट जु नांगी डर काहू के डरै नहीं।
भोजन बनावै नित चोखे खान खानन के,
सोनित पचावै तऊ उदर भरै नहीं॥
उगिलत आसौ-तऊ सुकल समर बीच,
राजै राव बुद्ध कर विमुख परै नहीं।

तेग या तिहारी मतवारी है अछक तोलौं,
जोलौं गजराजन की गजक करै नहीं ॥७॥
भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन बीच धसि जाति मीन,
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के॥
रैया राय चम्पति को छत्रसाल महाराज,
भूषन सकत को बखानि यों बलन के।
पच्छी पर-छीने ऐसे परे पर छीने वीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के ॥८॥
चाक चक चमू के अचाक चक चहूँ ओर,
चाक सी फिरत धाक चम्पति के लाल की।
भूषन भनत पातसाही मारि जेर कीन्हीं,
काहू उमराव ना करेरी करवाल की॥
सुनि सुनि रीति विरुदैत के बड़प्पन की,
थप्पन उथप्पन की बानि छत्रसाल की।
जंग जीतिलेया ते वै ह्वैके दामदेया भूप,
सेवा लागे करन महेवा महिपाल की ॥९॥
राजत अखण्ड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को॥
साज सजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हे,
भूषन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।
और राव राजा एक मन में न ल्याऊं अब,
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥१०॥

गङ्गा-गौरव।

[महाकवि पद्माकर * रचित]

कवित्त।

कूरम पै कोल कोल छ पै सेसकुण्डली है,
कुण्डली पै फर्यो फैल सुफन हजारको।
कहै 'पद्माकर' त्यों फनपै फर्यो है भूमि,
भूमि पै फर्यो है थिति रजत पहारको॥
रजत पहार पर सम्भु सुरनायक हैं,
सम्भु पर जोति जटाजूट है अपारको।
सम्भु जटाजूट पर चन्द की छुटी है छटा,
चन्द की छटान पै छटा है गङ्गधारको॥ १
सुचिति गोविन्द ह्वैके सोवतो कहाँ धौं जाय,
जलजन्तु पाँति जरजैबे को अखिलती।

---

* पद्माकर भट्ट, सन् १८१५ ई० में पैदा और मोहन भट्ट के पुत्र थे। [illegible] के रघुनाथराव पेशवा और जयपुरनरेश के दरबारी कवि थे। [illegible] जगद्विनोद, जगतसिंह नवाब के नाम पर बनाया था। इन्हें [illegible] पद्माकर को बहुत साधन मिला था। इन्होंने अपने जीवन के अधिक [illegible] में व्यतीत किये। गङ्गालहरी, भाषा हितोपदेश-[illegible] [illegible] हैं।

कहै पद्माकर सु जादा कहाँ कौन अब,
जाती मर्यादा है मही की अनमिलती॥
जल थल अन्तरिच्छ पावत क्यों पापी मुक्ति,
मुनिजन जापकन जौन दुरि मिलती।
सूखि जातो सिन्धु बड़वानल की झारनसों,
जो न गङ्गधार है हजार धार मिलती॥ २॥
पापिन की पाँति भाँति भाँति बिललाति परी,
जम की जमाति हल कम्पति हिलति है।
कहै पद्माकर हमेस दिवि-बीथिन-
विवानन की रेलारेल ठेलन ठिलति है॥
सुरधुनि रावरे उधारे जगजीवन की,
छिन छिन सेनी इन्द्रलोकहिं मिलति है।
आसन अरघ देत, देति निसिवासर,
विचारे पाकसासन को सासन मिलति है॥ ३॥
गङ्गाजू तिहारे तीर आछो भाँति पद्माकर,
देखी एक पातकी की अद्भुत मुकति है।
आयके गोविन्द चाहि धरिके गरुड़जी पै,
आपनेई लोक जाइबे की कीनो मति है॥
जौलों चलिबे में भयो गाफिल गोविन्द तौलों,
चोरि चतुरानन चलाई हंसगति है।
जौलों चतुरानन चितैबे चहुँ ओर लाग्यो,
तौलों वृष लादि कै पधाखो वृषपति है॥ ४॥
कलित कपूर में न कीरति कुमोदिनी में,
कुन्द में न कास में कपास में न कन्द में।
कहै पद्माकर न हंस में न हासहू में,
हिम में न हेरि हारी हीरन के वृन्द में॥

[illegible]

भीष्म-प्रतिज्ञा।

[रीवाँनरेश श्रीमान् रघुराजसिंह जू देव * रचित]

जो मैं सुरसरि-सुवन कहाऊँ।
तो प्रण मध्य सभा अस गाऊँ॥
कौरव पाण्डव बीच दुहूँ दल हरिपूजन अस ठाऊँ।
सो नित कन नहवाय नाथ कों रणरज बसन उड़ाऊँ,
पाण्डव सैन्य गारि गोविंद अँग चन्दन कोप चढ़ाऊँ।
विविध बरन की विपुल विकासित विसिख माल पहिराऊँ,
सम्मुख सत्रु सँहारि सहस्रन कीरति सुरभि सुघाऊँ।
तबहिं त्रिविक्रम को तुरन्त तहँ विक्रम दीप दिखाऊँ,
पारथ-सखा समीप जायकैं प्राणनिवेद लगाऊँ।

---

* इनका जन्म सं० १८८० वि० में और मृत्यु संवत् १९३६ वि० में हुई। ये रीवाँनरेश विश्वनाथसिंह जू देव के पुत्र थे। ये बड़े वीर और विद्वान् थे। साथ ही परम श्रीवैष्णव भक्त थे। इनके बनाये ग्रन्थ ये हैं:— १ रुक्मिणी-परिणय २ विनयमाल ३ आनन्दाम्बुनिधि ४ रामरसिकावली ५ भक्तिविलास आदि पन्द्रह ग्रन्थ। सन् १८५७ ई० के सिपाहीविद्रोह में इन्होंने बड़ी वीरता से मैहर की विद्रोहियों से रक्षा की। आप बड़े प्रजा-प्रिय और राजनीतिकुशल राजा थे।

सकल जगत तें खैंचि प्रेम को
विजयवान बलवाय समरमहँ जै
रथसों रथ मिलाइ माधव को घुज
नख सिख निरखत रूप अनूपम नै
बार बार हनि धनुष प्रत्यञ्चा धनुष
रथ मण्डल करि दे परिदोहना, उर
यदुवर करसों आज अवसि मैं, चक्र
अर्जुन सर पञ्जर जर्जर है गिरि सम्मु
यहि विधि रण प्रभु को करि पूजन त्रिभुव
"श्रीरघुराज" कृपा हारे की लहि वरदस

कुरुपति हमहुँ सुन्यो अस कान
यदुपति तुमसों अस प्रण कीन्हौ हम न धर
ताते मैं गुहराय कहत हौं, ऐसे व
हारे को आयुध अवसि धरैहौं ठानि घो
"श्रीरघुराज" सदा दासन को राखत
मेरो बार विरद बिसरै हैं कैसे कृपानिधा

कुरुपति इतनो मोहि प्रिय लागै,
ो नहिं मानो सोख हमारी, ताको दुख नहिं
मर मरन पुनि यदुपति सम्मुख, मिलत भये
रनहु पै जो रन तजि भागै तातें कोउ न
कोटिन जनम योगि जेहि ध्यावत करिकै जोग
सो रथवाहि "रघुराज" कसागहि धैहैं आँखिन आगै

चलु चलु अब न करहु नृप देरी,
बहुत दिनन को हम

एक करता जन बाग एक कर अर्जुन बाजिन केरी।
बहुँकित चपल चलावत स्यन्दन इमि यदुनन्दन हेरी,
"श्रीरघुराज" आज धनि ह्वैहौं धुनि धुनि बानन ढेरी ॥ ४ ॥

सारथि ! अस अवसर नहिं पैहौ,

दान मान मम कृत उपकारहि आजु उऋन ह्वै जैहौ।
जो अति चपल चलाइ तुरङ्गन हरि समीप पहुँचैहौ,
तो अपनो अरु हमरो जग में अति अनुपम यश छैहौ।
एक ओर यदुवीर विराजत एक ओर तुम ठैहौ,
यहि सुख तें नहिं और अधिक सुख अब न जगत जन ह्वैहौ।
यह साँवरी माधुरी मूरति देखत जो मर जैहौ,
तौ "रघुराज" अलभ जोगिन जो सो विकुण्ठ पद पैहौ ॥ ५ ॥

सारथि ! आवत पाण्डुकुमार,

तुरँग बाग धरि आगे बैठ्यो जेहि वसुदेवकुमार।
छन छन रन में रथहि धवावत धुरति धूरि की धार,
पारथ हनत हजारन सायक कटत वीर बलवार।
बिन सान्तनुसुत, को अब जैहै सम्मुख भट यहि बार,
कौं रिझाइ है विजय सखा कौं हनि सर समर मँझार।
लै चल लै चल तवल तुरङ्गन कर नहिं कछु खम्भार,
"श्रीरघुराज" स्यामसुन्दर पद मोकौं आज अधार ॥ ६ ॥

करनख केताकि पत्र अग्नि आलि कनककसिपु तन फाड्यो।
खम्भ फारि निज जनरच्छन हित हरि नरहरि वपु धाड्यो।
जय जय जय जगदीस हरे!
अद्भुत वामन बनि बलि छलिके तीन पैग जग नाप्यो।
दरसन मज्जन पान समन अघ निज नख जल थिर थाप्यो।
जय जय जय जगदीस हरे!
अभिमानी छत्रीगन वध तिन रुधिर सींच धर सारी।
इकइस बार निछत्र करी भुवि हर भृगुपति वपु धारी।
जय जय जय जगदीस हरे!
दस दिसि दस सिर मौलि दियो बलि सब सुरगन भयहारे।
सीय लछन सह सोभित सुन्दर रामरूप हरि धारे।
जय जय जय जगदीस हरे!
सुन्दर गौर सरीर नीलपट ससि में घन लपटायो।
करसन कर हल सो जमुनाजल हलधर रूप सुहायो।
जय जय जय जगदीस हरे!
अति करुना करि दीन पशुन पै निन्दे मख कर बेदा।
कलिजुग धरम कहे हरि है कै बुद्धरूप हर खेदा।
जय जय जय जगदीस हरे!
म्लेच्छ यवन हित कठिन धार तरवार धारि कर भारी।
नासे जवन सत्ययुग थाप्यो कल्कि रूप हरि धारी।
जय जय जय जगदीस हरे!
नन्दनंदन जगवन्दन दस वपु धरि लीला विस्तारी।
गाई कवि जयदेव सोई हरिचन्द भक्ति भयहारी।
जय जय जय जगदीस हरे!

तिनपै जेहि छिन चन्दजोति राका निसि आवति,
जल में मिलिकै नभ अवनिलौं तान तनावति।
होत मुकुटमय सबै तबै उज्जल इक आभा,
तन मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा।
सो को कवि जो छवि कहि सकै ता छन जमुना नीर की,
मिलि अवनि और अम्बर रहित छवि इकसी नभतीर की॥ ४॥
परत चन्द प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो,
लोल लहरि लहि नचत कबहूँ सोई मन भायो।
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो,
कै तरङ्ग कर मुकुर लिये सोभित छवि छायो।
कै रासरमन में हरि मुकुट आभा जल दिखरात है,
कै जल उर हरि मूरति बसति ता प्रतिबिम्ब लखात है॥ ५॥
कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत,
पवन गवन बस बिम्बरूप जल में बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै,
कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत किलोलै।
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती,
कै अवगाहत डोलत काऊ ब्रजरमनी जल आवती॥ ६॥
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटिजात जमुन जल,
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अबिकल।
कै कालिन्दीनीर तरङ्ग जितो उपजावत,
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत।
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत,
कै निसिपति मल्ल अनेक बिधि उठि बैठत कसरत करत॥ ७॥
कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत,
कहुँ कारण्डव उड़त कहूँ

चकवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत,
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत।
कहुँ तटपै नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत,
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत॥ ८
कहूँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई,
उज्ज्वल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई।
पिय के आवन हेतु पाँवड़े मनहुँ बिछाये,
रजरासि करि चूर कूल में मनु बगराये।
मनु मुक्त माँग सोभित भरी, स्याम नीर चिकुरन परासि,
सतगुन छायो कै तीर में ब्रजनिवास लखि हिय हरासि॥ ९॥

[चन्द्रावली

प्रेम प्रलाप।

[३]

[१]

प्रभु हो! ऐसी तो न बिसारो।

कहत पुकार नाथ तुम रूठे कहुँ न निबाह हमारो॥
जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नित हीं करत बुराई।
तो फिर भले होइ तुम छाँड़त काहे नाथ भलाई॥
जो बालक अरुझाइ खेल में जननी सुधि बिसरावे।
तो का माता ताहि कुपित है, ता दिन दूध न प्यावे॥
मात पिता गुरु स्वामी राजा जो न कृपा उर लावै।
तो सिसु सेवक प्रजा न कोऊ बिधि जग में निबहन पावै॥
दयानिधान कृपानिधि केसव करुन भक्तभयहारी।
नाथ न्याव तजते हीं बनि है "हरीचन्द" की बारी॥

[२]

नाथ तुम अपनी ओर निहारो।

हमरी ओर न देखहु प्यारे निज गुनगनन बिचारो॥
जो लखते अब लौं जन औगुन अपने गुन बिसराई।
तो तरते किमि अजामील से पापी देहु बताई॥
अबलौं तो कबहूँ नहिं देख्यो जन के औगुन प्यारे।
तो अब नाथ नई क्यों ठानत भाखहु बार हमारे॥

तुम गुन छमा दया सों मेरे अघ नहिं बड़े कन्हाई।
तासों तारि लेउ नँदनन्दन "हरीचन्द" को धाई॥

[३]

मेरी देखहु नाथ कुचाली।
लोक वेद दोउन सों न्यारी हम निज रीति निकाली॥
जैसो करम करें जग में जो सो तैसो फल पावे।
यह मरजाद मिटावन की नित मन में मेरे आवे॥
न्याव सहज गुन तुम्हरो जग के सब मतवारे जाने।
नाथ ढिठाई लखौ ताहि हम निहचय झूठो जाने॥
पुन्यहि हेम हथकड़ी समुझत तासों नहिं विस्वासा।
दयानिधान नाम को केवल या हरिचन्दहि आसा॥

[४]

अहो इन झूठन मोहिं भुलायो।
कबहुँ जगत के कबहुँ स्वर्ग के स्वादन मोहिं ललचायो॥
भले होहिं किन लोह हेम की पुन्य पाप दोउ बेरी।
लोभ मूल परमारथ स्वारथ नामहि में कछु फेरी॥
इनमें भूलि कृपानिधि तुम्हरो चरन कमल बिसरायो।
ताही सो भटकत फिरयो जगत में नाहक जन्म गँवायो॥
हाय हाय करि मोह छाँड़िकै कबहुँ न धीरज धाखो।
या जग जगती जोर अगिनि में आयस दिन सब जाखो॥
करहु कृपा करुनानिधि सेवक जग के जाल छुड़ाई।
दीन हीन "हरिचन्द" दास को, बेगि लेहु अपनाई॥

[५]

हमहुँ कबहुँ सुख सों रहते।
छाँड़ि जाल सब निसि दिन मुख सों केवल कृष्णहि कहते॥

सदा मगन लीला अनुभव में दृग दोऊ अविचल होते।
"हरीचन्द" घनस्याम विरह इक जग दुख तृनसम दहते॥

[६]

करनी करुनासिन्धु की कासो कहिजाई।
अति उदार गुनगन भरे गोवरधन राई॥
तनिक तुलसिदल के दिये तेहि बहुकर मानै।
सेवा लघु निज दास की परवत सी जानै॥
अजामील सुत आपनो तुव नाम पुकार्यो।
ताके अघ सब दूरि कै तुम तुरत उबार्यो॥
कहा ब्याध गजराज सों करनी बन आई।
कहा गिद्ध गनिका कियो ताखो तुम धाई॥
कहा कपिन को रूप है का गुन बड़िआई।
तिन सों बोले बन्धु से ऐसी करुनाई॥
कहा सुदामा बापुरो कहाँ त्रिभुवन स्वामी।
ताकी अग्रज सारखी किय चरन गुलामी॥
कहा ग्वाल औ ग्वालिनी करनी की पूरी।
जिनके संग बन में फिरे हरि करत मँजूरी॥
ब्रज के मृग पशु भीलिनी तृन बीरुध जेते।
बन्धु सरिस मानै सबै करुनानिधि तेते॥
कहा अधम अघ सों भर्यो "हरिचन्द" भिखारी।
जिहि माधो सहजहि लियो गहि बाँह उबारी॥

[७]

होइ हरि द्वै में ते अब एक।
कै मारो कै तारो मोहन छाँड़ि आपनी टेक॥
बहुत भई सहिजात नहीं अब करहु बिलम्ब न नेक।
"हरीचन्द" छाँड़ो हो लालन पावन पतित बिबेक॥

[८]

मायरी मोरी मोंमरी हो, जाय पड़ी मनमोहन
बिनि आँखियाँ पनी लागत है उनकी बहनि बयान।
गुमान मोहि उपाय बिनु केवट कोउ न सुनत पुकार।
"हरीचन्द" इक कुसमय में पार लगावो पार॥

आनन्द अरुणोदय।

["आनन्द-कादम्बिनी" सम्पादक उपाध्याय पण्डित बद्रीनारायण चौधरी उपनाम "प्रेमघन" विरचित]

* * * *

(१)

उठो आर्यसन्तान सकल मिलि यस न विलम्ब लगाओ।
वृटिशराज स्वातन्त्र्यमय समय व्यर्थ न बैठ बिताओ॥
देखो तो जग मनुज कहाँ से कहाँ पहुँच कर भाई।
धर्म्म, नीति, विज्ञान, कला, विद्या, बल, सुमति सुहाई॥

(२)

की उन्नति निज देश, जाति, भाषा, सभ्यता, सुखों की।
तुम सब ने सीखी यह बानि रही जो खान दुःखों की॥
वैदिक सत्य धर्म्म तज कर मनमाने मत प्रगटाये।
ऋषि त्रिकालदर्शी गन के उपदेश भूल दुःख पाये॥

(३)

वर्णाश्रम गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध चाल चलने से।
बने दीन तुम धर्म्म सनातन की सम्पति टलने से॥

मिथ्याडम्बर धर्म ढोंग पाखण्ड फूट है
अपने मुख से अपने को गाय से उच्च ब

(४)

धर्मनाम से हुए शून्य तुम बिना विचार विच
फन्दे में फँस अन्धों के साथ सब अपने हा
क्षमा, सत्य, धृति, दया, शौच, अस्तेय, अहिंसा त्याग
शम, दम, निनिसादि यम नियम विहीन विषय अनुरागी

(५)

धर्म ओट सुख स्वार्थ साधने की है चाल सखातो।
कुत्सित काम लोभ के कारण जो नहिं छोड़ी जाती॥
बिन विवेक वैराग्य ज्ञान तप उपासना के मार्ग।
सदाचार उपकार बिना कब किसने सद्गति पाई॥

(६)

प्रचलित हाय अन्ध परिपाटी पर तुम चलते जाते।
आर्यवंश को लज्जित करते कुछ भी नहीं लजाते॥
है मिथ्या विश्वास तुम्हारे मन में इतना छाया।
दूहों औ क्रबरों पर भी जा मस्तक हाय नवाय

(७)

पञ्चदेव से पाँच पीर जिनसे हैं पूजे जाते
घृणित अर्थवाची भी हिन्दू हैं वे आज कहाते।
ब्रह्म से विमुख सदा तुम सिद्धि कहाँ से पाओ।
नित्य नये दुख सहने पर भी तनक नहीं पछताओ॥

(८)

अर्थरहित धर्मोपदेष्टा विरले कहाँ लखाते।
तत्त्व ज्ञानी सच्चे गुरु कोई ढूँढ़ कर पाते॥

नहीं विचारकर तत्त्व जो अर्थों को बतलाते।
ग्रहण त्याग सत् असत् रीति कुछ कभी नहीं समझाते॥

(९)

खण्डन मण्डन की बातें करते, सब सुनी सुनाई।
गाली देकर हाय ! बनाते वैरी अपने भाई॥
नित्य नयीन धर्मपथ रचकर ठग तुमको बहकाते।
स्वर्ग छोड़ तुम राख राशि लेकर प्रसन्न दिखलाते॥

(१०)

छिन्न भिन्न समुदाय सनातन नित्य इसीसे होता।
प्रबल विरोधी दल हो उसके शक्ति-पुञ्ज को खोता॥
धर्म आग्रह सब हैं केवल करने ही को झगड़ा।
नहीं तो शक्ति धर्म प्रेमी से कैसा किससे रगड़ा॥

(११)

सभी धर्म के यही सत्य सिद्धान्त न और विचारो।
है उपासना भेद न उसके अर्थ वैर विस्तारो॥
जगदीश्वर आराध्य देवता सब का है वह एको।
मूलधर्म का ग्रन्थ वेद सब का जल एक विवेकी॥

(१२)

समझो तब कैसा विरोध आपस का सब ने टाना।
वैर फूट का फल अद्यापि नहिं तुमने क्या जाना?
बीती जो उसको भूलो समझलो अब तो आगे से।
मिलो परस्पर सब भाई बंधु एक प्रेम धागे से॥

(१३)

आर्यवंश को करो एक अद्वैत भेद विनसाओ।
मन वच कर्म एक हो वेदविदित आदर्श दिखाओ॥

बैठो सब थल एक ध्याय सर्वेश एक अ
एक विचार करो थिर मिलकर जग आतङ्क

(१४)

मिथ्याडम्बर छोड़ धर्म का सच्चा तत्त्व नि
चारों वेद कथित चारों युग प्रचलित प्रथा प्र
चारों वर्ण आश्रम चारों भिन्न धर्म के
निज निज धर्म्माचरण यथाविधि करो कपट छल त्या

(१५)

चारों वर्ण अवस्था चारों के अनुसार सर
आवश्यक साधन सब का है विधिवत् नियम नियाहे
नहीं एक से काम जगत का चलता कभी लखाता
जगत प्रबन्ध ठीक रखने को धर्म वेद बतलाता।

(१६)

लोक और परलोक उभय संग जब साधोगे भाई।
तब यथार्थ सुख पावोगे खोकर यह सब कठिनाई।
सीखो नई पुरानी दोनों प्रकार की विद्यायें।
दोनों प्रकार के विज्ञान सिखाओ रचि शालायें।

(१७)

शिल्पकला सम्यक् प्रकार उन्नत कर शीघ्र प्रचारो।
निज व्यापार अपार प्रसार करो जग यश विस्तारो।
आवश्यक समाज संशोधन करो न देर लगाओ।
हुए नवीन सभ्य औरों से अपने को न हँसाओ।

(१८)

अपनी जाति वस्तु, अपने आचार, देश भाषा से।
रक्खो प्रीति रीति निज धर्म वेश पर अति मुग्धता से।

राजअर्थ औ धर्मनीति तीनों को सङ्ग मिलाओ।
दृढ़ उद्योग निरालस हो कर करो सफल फल पाओ॥

(१९)

सब से प्रथम धर्म्म सञ्चय का यत्न करो ये प्यारे।
सकल मनोरथ होते सफल धर्म के एक सहारे॥
सत्य सनातन धर्म ध्वजा हो निश्चल गगन उड़ाओ।
श्रौत स्मार्त्त कर्म अनुशासन की दुन्दुभी बजाओ॥

(२०)

फूँको शङ्ख अनन्य भक्ति हरि ज्ञान प्रदीप जलाते।
जगत प्रशंसित आर्यवंश जय जय की धूम मचाते॥
आर्यशास्त्र उपदेश करत रव विजयघण्ट को भारी।
विश्वविजय कर लो प्रयास बिनु वैरी वृन्द विदारी॥

(२१)

मुख्य सत्यबल सञ्चय करके मन में दृढ़ कर जानो।
जहाँ सत्य जय तहाँ नियम यह निश्चय कर के मानो॥
रक्खो ईश कृपा की आशा शरण उसीकी जाओ।
मङ्गल होगा सदा तुम्हारा सहज सिद्धि सब पाओ॥

(२२)

यह सुनकर सब सम्प्रदाय के उठे आर्य हरषाते।
"जय सच्चिदानन्द"! "जय भारत"! उच्चस्वर चिल्लाते॥
पहुँचे प्रयाग जाकर जो है तीर्थराज कहलाता।
मज्जन कर के सलिल त्रिवेनी जो अघ ओघ नसाता॥

* * * * * *

श्रीपञ्चमी।

[पण्डित प्रतापनारायण मिश्र * विरचित]

"वीणा पुस्तक रञ्जित हस्ते
भगवति भारति देवि नमस्ते।"

चौपाई।

सतदल सेत कमल पर सोहौ।
कुन्द बरनि सुन्दरि तुम कोहौ॥
राजहु बसन बसन्ती धारे।
तन दुति दसहु दिसान पसारे॥
तरुन अरुन पङ्कज पद सोहै।
जिनहिं जोहि जगजन मन मोहै॥

---

* इनका जन्म सं० १९१३ वि० में हुआ और मृत्यु सं० १९५१ वि में हुई। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और कानपुर में रहा करते थे। इन्होंने "ब्राह्मण" नामक एक मासिकपत्र निकाला था। कुछ दिनों तक इन्होंने दैनिक हिन्दी हिन्दोस्थान का सम्पादन भी किया था। अभिज्ञान शाकुन्तल, बाङ्ला-स्वागत आदि काव्य आपकी प्रसिद्ध रचनाओं में से हैं। इनके अतिरिक्त आपने तेरह पुस्तकों का अनुवाद भी किया और बीस पुस्तकें स्वयं रचीं। इनकी कविता समयोचित और मर्मस्पर्शिनी हुआ करती थी।

रुनक झुनक पैजनि धुनि छाई।
पद परसत जिय जात जुड़ाई॥
कर सरोज श्रुति गाथ सुहाई।
जिहि लिखि लेखनि लहत बड़ाई॥
यहि थानक भारत नभ सोहौ।
आई आजु कहाँ ते को हौ॥
मुख माधुरी निहारि तिहारी।
मातु मया उपजति उर भारी॥
जग मोहनि तव मृदु मुसकानी।
सुधा स्वादु दायिनि धर बानी॥
जदपि तुम्हें पहिचानत नाहीं।
पै अस जानि परत मनमाहीं॥
तुमहो कहा भारती देवी।
भारत आदि शक्ति सुर सेवी॥
धन्य मातु भल दरसन दीन्हा।
पै किहि हेतु इतिक श्रम कीन्हा॥
अब तव पूजन जोग न कोऊ।
करहि जो चन्दन पुहुप सँजोऊ॥
नहिं अब बालमीकि नहिं व्यासू।
नहिं कोउ मुनि जिहि श्रुति अभ्यासू॥
कालिदास कविवर कहुँ नाहीं।
तव भारतहु न भारत माहीं॥
काशी[1] कीरति[2] चण्डी[3] कङ्कन[4]।
नाहिंन कोउ जु करिहि तव पूजन॥

१, २, ३, ४—ये चारों बङ्गाल के महात्मा हैं।

लीलावती गारगी मीरा।
रहीं जु तव प्रेमिनि मनि धीरा॥
चन्द सूर तुलसी रहिमन हूं।
हरि सनि आदिक तव प्रियजन हूं॥
सब तजि गये भारतहि माई।
को पूजि है तोहिं मन लाई॥
अब तो हां हम सम सब लोगा।
बसहिं मन्दमति अतिहि अजोगा॥
जानहि नहि पूजन उपचारू।
बैठे त्यागि वेद व्यवहारू॥
कुकृत कलङ्कित तन मन प्राना।
पदपङ्कज परसत भय माना॥
अहङ्कार उन्नति यह ग्रीवा।
नवति न चाहि चरन सुख सींवा॥
किट विट रटत जु जीह खियानी।
किमि गावै तुव गुन सुरवानी॥
रहैं जु आरज भक्त तिहारे।
हम उनके कुल बोरन हारे॥
उनके गुन कर लेसहु नाहीं।
बूड़े रहहिं तदपि मद माहीं॥
हमरे हिय पखान कर दारू।
अहे जननि! छिन खोल निहारू॥
लखि परि है सब ओर अपारा।
पाप ताप कारिख औ जारा॥
हाहा मातु यही हरि लेहू।
करि कुपूत पर सहज सनेहू॥

दृगन ज्ञान अञ्जन कहँ आँजी।
दीजै दूषित दीठिहि माँजी॥
श्रुति सम्मति मय दूध पियाई।
नासहु जगत छुधा दुखदाई॥
तव हम न्हाय गङ्ग वर वारी।
ह्वैहैं तव पूजन अधिकारी॥
करि दरसन ह्वै पुलकित गाता।
ध्वै हैं दृगजल पद जलजाता॥
तुमहिं रिझाइ माय विधि नाना।
लेहैं विमल भक्ति वरदाना॥
जिहि आगे त्रिभुवन प्रभुताई।
तुच्छ तुच्छ अति तुच्छ दिखाई॥

धौरे नील सुरंग, अकास अब लगै सुहाई।
दुपहरिया के खिलत, भूमि छाई अरुनाई॥
पकत धान की बालि, खेत सब लखियत गोरे।
लखि तरुनन के चित्त, होयँ अब उमँग न थोरे॥
डोलत मंद बयार, डार फुनगी कछु झूमत।
छके किये मधुपान, भ्रमर फूलन जनु चूमत॥
खिले फूल के गुच्छ, लसत पल्लव कछु सोहै।
शरद माहिं कचनार, लाल सब कर मन मोहै॥
भूषन पहिरि जड़ाय, खिलत नभ महँ जब तारे।
छूटत मेघ अति विमल, चंद निज बदन उघारे॥
लसत विमल अँग अंग, जोन्ह की उज्ज्वल सारी।
बाढ़त दिन दिन रैनि, मनहुँ श्यामा कोउ नारी॥
उठत लहर हारील, चोंच सन फारत नीरा।
बत्तक सारस यूथ बैठि, नाचत मिलि तीरा॥
चकवाक उत चलत, हंस कूजत मद भरि इत।
परी कमल की धूरि, सरित मोहैं सब कर चित॥
जोन्ह जाल फैलाय, सबन कर चित्त लुभावत।
करि प्रसन्न संसार, ठंढ किरनैं बरसावत॥
पिय वियोग की आगि, जिनहिं यहि अवसर जारे।
तिनहिं आज यह चंद, जारि मानहुँ फिरि मारे॥
झुकी बालि के भार, शालि के खेत कँपावत।
दबी फूल के बोझ, सेवती डार नचावत॥
खिले कमल बन लसत, नलिनि चहुँओर हिलावत।
शरदकाल को पौन, तरुनजन चित्त चलावत॥
जल महँ मद भरि हंस, चलत ठाढ़े कछु कूलन।
भूषन सम जनु धरे, देह पंकज के फूलन॥

मन्द मात के पौन, चलत कछु उडत तरं
लखि लखि यहि ऋतु मांह, होत मन प्रबल उमंग
इन्द्र धनुष यहि काल, मेघ बीच हो हिरान
चमकत नहिं अब बिज्जु, उड़त नभ ध्वजा समाना
नभ कहँ बगुलिन यूथ, आज नहिं पंखन मारैं
मुख उठाय आकाश, ओर नहिं मोर निहारैं॥
कदम कुरैया साल, छांड़ि अर्जुन बन सारा।
समच्छदतरु माहिं, फूल को गई बहारा॥
खिले नेवाड़ी फूल, रङ्ग अति लगै मनोहर।
सुख सन बैठे डार, डारं कूजत खग सुन्दर॥
नील कमल से हरिन, नैन राजत इक ओरा।
मोहत रसिकन चित्त, शरदऋतु महँ बन छोरा॥
लत वायु नित प्रात, ताल महँ कमल हिलावत।
तन पर सोह ओस, बूँद इत उत ढुलकावत॥
परसत अति होय, सीत, लै सँग कछु सीकर।
चित्त नहिं भूप, शरदऋतु केहि तरुनी कर॥
बाहर की ओर, धान की लखिय हरेरी।
नीर धुनि सुनिय, हंस अरु सारसकेरी॥
घास कछु ढोर, बैठि कछु पागुर करहीं।
बाग बन सकल, शरद देखत मन हरहीं॥
लालत तियन की चाल, आज हंसिन जनु पाई।
खिले कमल भे मंजु, प्रियामुख सरिस सुहाई॥
मद बस चितवनि चपल, नील कमलन छवि छोरी।
लहरन भृकुटि विलास, लीन्ह मानहुँ अँग तोरी॥
झुकी कुसुम के भार, शरद श्यामा की डारैं।
लहै बांह छवि रुचिर, नारि भूपल [illegible]

लाल ओंठ की जोति सहित, तियमुख मुसुकाना।
लसत निवाड़ि असोक, माँहि पावत उपमाना॥
टेढ़ी लट के बीच, बीच तिय धरत चमेली।
कानन कुण्डल संग, कमल पहिरें अलबेली॥
पहिरें चरनसरोज, रुचिर घुंघुरुन की माला।
है प्रसन्न यहि भांति, देह साजें अब बाला॥

दोहा।

खड़े हंस जल नील पर, लसत कुमुद चहुँ पास।
शशि तारन सँग तालसम, अब लखि परे अकास॥

पाय कै फूलन संग बहैं अब सीतल मन्द सुगंध बयारी।
मेघ छुटे अति नील अकास दिसान के भाग भए सुखकारी॥
भूमि पै कीच सुखानो चहूं दिशि तालन में भए निर्मल वारी।
तारे खिले नभ में लखिए पसरी शशि की जग में उजियारी॥
नायकज्यों करसों निजभानुजो प्रीतिसों आजुजगावत आई।
प्रात समै तरुनीमुख के सम तालन लेत सरोज जम्हाई॥
डूबत देखि निशापति को अब कूँइके फूल मनौं दुख पाई।
होत है बंद विदेस गए पिय भूप प्रियामुसुकान की नाई॥
नील सरोजन माँहि निहारन नैन पियारिन के कजरारे।
देखिकै हंसकी कूजत पांती सुवर्ण की किंकिन की छविधारे॥
लाल दुपहिया की पखरीन विलोकिकै ओंठन चेति विचारे।
रोवत औ अकुलात फिरैं परदेसी वियोगकी आगिके जारे॥
नील सरोज बनाए विलोचन पंकज से सुचि आननवारी।
फूली जो कास लसैं महिपै पहिरे अतिसेत मनौं सोइ सारी॥
कूँइ फुलात मनौ मुसुकात सो कामिनिसी शरदा मतवारी।
देइ अनंद अनूपम भूप बनै सो प्रिया सुखमूरि तुम्हारी॥

काशीवर्णन।

[साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्तजी व्यास * विरचित]

धरनि सकै को विश्वनाथ की पुरी सुहावनि,
देवन चित तरसावनि मुनि जन हिय हरषावनि।
दूरहिं तें दरसात विलच्छन याकी सोभा,
चलत चलत लखि ठठकि जात पथिकहु मन लोभा। १।
सीतल लखिकै गङ्गातट हरगिरि जनु सोयो,
मनहुँ मेघ को वृन्द भूमितल आप समोयो।

---

* इनका जन्म सं० १९१२ वि० और मृत्यु सं० १९५६ वि० में हुई। ये श्रीवैष्णव सम्प्रदायानुगामी थे। ये संस्कृत के एक सुबोध विद्वान् थे। ये जैसे विद्वान् लेखक थे वैसे ही प्रसिद्ध वक्ता भी थे। आपने ही हिन्दी भाषा में सब से सरल और चटपटा मासिकपत्र "दीपप्रवाह" निकाला था। इसका वार्षिक मूल्य केवल ॥) आने था। आपने हिन्दी और संस्कृत में सब मिलाकर ७८ ग्रन्थ बनाये जोकि रत्न समझे जाते हैं। आप चौबीस मिनिट में सौ श्लोकों की रचना कर सकते थे। आपको "साहित्याचार्य", "भारतरत्न", "घटिका-शतक", "शतावधानी" आदि पदवियाँ और पदक मिले थे। संस्कृत को छोड़ आप बँगला, मरहठी, गुजराती, अङ्गरेजी, हिन्दी आदि भाषाएँ भी जानते थे।

अहै मनहुँ साकेतपुरी जल थल सों ऊँची,
कैधों है वैकुण्ठपुरी सुखदानि समूची। २।
ऊँचे ऊँचे कलस दूरिही सों अति चमकत,
चन्द सूर की किरन परैं दूनी दुति दमकत।
अमृतघट सिर लिये मनहुँ गृहदेवी ठाढ़ी,
जात्रीगन को मङ्गलमय छवि दीखत बाढ़ी। ३।
मेघन की लहि रगर मनहुँ दमकत अति दूने,
चमचमात से कलस बिज्जु के मनहुँ नमूने।
चिदानन्द की भरी पोटरी से छवि छाजत,
मनहुँ मुक्ति के वसीकरन टोटका बिराजत। ४।
तिनके बिच बिच लसत धुजा फर फर फहरातीं,
पापिन के जनु पापनकों फटकारि उड़ातीं।
दूरि दूरि के मनहुँ बटोहिन निकट बुलातीं,
जमदूतन को धकधकाय दमदम दमकातीं। ५।
मूर्ति यही जनु कीर्ति कासिका की लहरातीं,
अति कराल कलिकाल विजय धीची छहरातीं।
विधि की रेख मिटायतिसी उज्ज्वल दरसातीं,
लसहि पताका रङ्ग बिरङ्गी हिय सरसातीं। ६।
मधुर दुन्दुभी सङ्ग मधुर बाजत सहनाई,
मधुर मधुर ही राग मधुरता हिय बगराई।
आँखिन में भरिजात मधुर वह रूप लुनाई,
धन्य मधुरता जहाँ सम्भु हू गये लुभाई। ७।
धीमी धीमी धार सुरधुनी ता ढिग सोहत,
पुलकि पसीजत मुनिजन हू जाकी छवि जोहत।
जाकी शोभा देखि चिदानँद हिय आरोहत,
देव देव के सहस नयनहू इहि लखि मोहत। ८।

देवधुनी इ काशी दिग लहि आनँद सोवनि,
परम प्रेम जल पाणि कासिका के पग धोवति।
मुक्तिलता के अंकुर को सींचनि सो धावनि,
लहरन को लहराइ प्रेम अनिसै सरसावनि। ९।
चलत हजारन कोस जासु दिग जाश्री आवैं,
थके पसीना भरे जाहि लखि हीय जुड़ावैं।
जनम जनम के पातकहूं जेहि देखि परावैं,
जा गङ्गा के नाम अधम केते तरिजावैं। १०।
सेतुबन्धरामेश्वर को जाको जल भावत,
वैद्यनाथहू मत्त होइ जिहिं तोय नहावत।
कलिजुग में जो सरन एकही मात्र दिखावत,
रजहू माथे मलै जोई सुरधाम पठावत। ११।
सोऊ गङ्गा जा के संनिधि आइ रही हैं,
दूध धारसों उमँगि उमँगि जनु धाइ रही हैं।
दरसन ही से पातकपुञ्ज बहाइ रही हैं,
देवगनन के नयननहूँ तरसाइ रही हैं। १२।
प्रात समय गङ्गा की शोभा नहिं कहिजाती,
देखत ही में उमँगि प्रेम भरि आवत छाती।
बं बं हर हर करत भीड़ आती अरु जाती,
नौका केती चलत मन्द लहरनि लहराती। १३।
केते मज्जन करत मनहुँ गङ्गहिं आलिङ्गत,
केते इत उत मुदित होय जल ही में रिङ्गत।
किते नीर शिर धारि सम्भु कोसो सुख पावत,
किते उछारत जल जनु पुनि हरिपद सरसावत। १४।
लै लै नीर एक दूजे पै छिरकत,
छोड़ि अनन्दित है कोउ थिरकत।

केते बालक कूदि कूदि बहुविधि तै पौरत,
खलभलात जल कोऊ तहाँ जल ही जल दौरत। १५।
कुस औ तिल लै पितरन कों कोउ ठानत तर्पन,
अँजुरिन भरि जल फूल करत कोउ रवि को अर्पन।
कोऊ पौंछत गात वेद के मन्त्रन बोलत,
सहस नाम कोउ पढ़त गाँठ निज हिय की खोलत। १६।
लम्बे तख्ता बिछे वारि ऊपर अति सोहत,
तिनपै बैठे विप्र घनानँद आनँद दोहत।
कोउ करि प्रानायाम सुषुम्ना पथ आरोहत,
कोउ त्राटकी करत चन्द्र के रन्ध्रहिं जोहत। १७।
संन्यासी तहँ कोउ नहाइ कौपीन निचोरत,
कोऊ बारहिं बार धोय जल तुम्बा बोरत।
सीढ़ी पै कोउ बैठि सुभग छवि ठाट निहारत,
कोऊ लखि लखि ता सोभा को तन मन वारत। १८।
कोऊ द्वैत मत तर्क लेइ दूजे पै बोलत,
कोऊ लै मायावाद तासु के नैनन खोलत।
कोऊ लै शुद्धाद्वैत ताहि कछु और सिखावत,
कोऊ विशिष्टाद्वैत भाषि तेहि हीय लुभावत। १९।
कोऊ शिव को बड़ो भाषि आनँद रस चाखत,
पुरुषोत्तम को बड़ो कोऊ त्रिभुवन में भाषत।
कोऊ कृष्णहिं को चोर कहत रामहिं पै मातत,
कोऊ रामहिं तपसी कहि नँदनन्दहिं रातत। २०।
कोऊ भाषत एकहि है पुरुषोत्तम पूरो,
सोई शिव अरु रामहु सोई गननाथहु रूरो।
माखन मिसरी खात सोई पुनि खात धतूरो,
एक सोई है ब्रह्म होउ तासों मत दूरो। २१।

काऊ के सिर दीपशिखासों टीका राजै,
काऊ के सिर रामानन्दी तिलक बिराजै।
कोऊ छापा छापि पीत बिन्दुरी मधि दीन्हीं,
कोऊ लेइ बिभूति तीन सुठि रेखा कीन्हो।२२।
कोऊ निज बालकन भाल पै खौर सँवारत,
कोऊ दच्छिना देत बिप्र कों जनम सुधारत।
कहुँ घाटिया लटपट के सङ्कल्प उचारत,
लै कर झारी करि प्रनाम कोउ गेह पधारत।२३।
कोऊ घाट रमनीगन ही की भीर लगी है,
किङ्किन झूमकि पायजेब की झमक जगी है।
कोउ नहात कोउ बाहर निकरत कोउ पट पहरत,
कोऊ भीजे बसन जपत माला अरु थहरत।२४।
कोउ दूजी सों कहत आज क्यों देरी कीनो,
कोउ कहत इक दीखत है यह नारि नवीनी।
कोऊ अङ्क उतारि घाट बालक बैठावति,
कोऊ पुनि निजछोटनके अँगमलिमलि नहवावति।२५।
ठौर ठौर मन्दिर मन्दिर में कथा सुहाई,
नर नारिन की भीर तहाँ चहुँ दिसि में छाई।
कहुँ मन्दिर में होत भजन आरति कहुँ गाई,
कहुँ जै जै धुनि सहित धमाके घण्टा घहराई।२६।
नङ्गे पाँवन चलत कहूँ बाबू अरु राजा,
राजकुमारहु घुसत भीर में कहुँ तजि लाजा।
कहुँ पूजा के थार हाथ लै चलत तियागन,
हरि गनेस सिव दरसन हित माते सब के मन।२७।
कोऊ महल्ला घोषि रहे दुज बटुक जटा घन,
"रिड्डाणम" की चटनी कहुँ कहुँ करत छात्रगन।

छेद छेद अरु छिन्न छिन्न कोउ संस्कृत बोलत,
कोउ गीतामृत चाखि हृदय की गाँठिन खोलत। २८।
आवत कहुँ कोऊ पण्डित कर में पेड़ा लीन्हे,
ढीलो धोती पाग ओढ़ना ढीलो कीन्हे।
सूँघत सुँघनी कोऊ छींकि औरन छिंकावत,
कोऊ व्यवस्था सभा हेतु निज डौल लगावत। २९।
धन्य कासिका पुरी अहै को बरनि सकै इहिं,
राखत निज तिरसूल अग्र पै महादेव जिहिं।
जाको दरसन किये पाप दूरहिं सों भागत,
पापिनहूँ को हीय जहाँ हरि जस अनुरागत। ३०।
संसारिन को विषय भोग की भरी लखाती,
विद्या की जनु जन्मभूमि बुधगनहिं दिखाती।
धनिकन को धनमयी सिल्पि को सिल्प सुहाती,
मुनिजन को इक भक्ति दानि सुन्दर दरसाती। ३१।

"कहौ सत्य ही" ईश कर यह निदेश सब काहिं।
सत्य पंथ गहि आजु लौं कोऊ भटक्यो नाहिं। ९।
जानी जात सुगन्ध सों सोई मृगमद जान।
ज्ञान नाम तें होत जो तौन खरी पहचान। १०।
पिता पितामह आदि की सम्मति जो चह लेन।
तौ तू पहिले बन अवाशि तिनके गुन को ऐन। ११।
औरन के जो कहत है तोसों दोस सुनाय।
वह औरन सों कहहिगो दोस तिहारहु जाय। १२।
विसधर भीम भुजङ्ग को अङ्ग नासि जो कोय।
दया सपेलन पै करत बुद्धिमान नहिं सोय। १३।

द्रौपदी वचन-बाणावली।

[२]

धर्मराज से, दुर्योधन को, इस प्रकार सुन सिद्धि
चिन्तनकर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी
क्रोध और उद्वेग बढ़ानेवाली, तब वह गिरा
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्तिपूर्ण तत्
आप सदृश पण्डित के सम्मुख निपट नीच नारी
तिरस्कार कारक सी होती है हे नरपति-कुल
वस्त्र-हरण आदिक अति दुःसह दुःख, तथापि, आज
बार बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भू
तेरे ही वंशज महीपवर सुरनायकसम
जो धरणी अखण्ड, इस दिनतक, धारण किये रो
हा हा! वही मही निज कर से तूने ऐसी
सिर से हार फेंक देता है जैसे महामत्त ग
कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में, कपट
मूढ़ नर, निश्चय, पाय पराभ
प्रवेश, फिर उनको शठ यों मा
तनु से ज्यों पैने बाण प्राण से

हे साधन-सम्पन्न नराधिप! हे क्षत्रियकुल-अभिमानी!
कुलजा, गुण-गरिमा-वशंवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।
तुझे छोड़कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटायेगा;
अपनी मनोरमा रमणी सम रिपु से हरण करावेगा?। ५।
हे महीप! मानी नर जिसको महानिन्द्य बतलाते हैं,
उसी पन्थ के आप पथिक हैं; नहीं परन्तु लजाते हैं।
कोपानल क्यों नहीं आपको भस्मीभूत बनाता है,?
सूखे शमी वृक्ष को जैसे ज्वाला-जाल जलाता है। ६।
यथासमय जो कोप-अनुग्रह को प्रयोग में लाते हैं,
स्वयं देहधारी सब उनके वशीभूत होजाते हैं।
क्रोधहीन नर की रिपुता से कोई भय नहीं पाते हैं,
तथा मित्रता से, वे, उसको आदर भी न दिखाते हैं। ७।
चन्दनचर्चित गात भीम जो रथ ही पर चलता था तब,
धूलि धूसरित वही, विपिन में पैदल फिरता है सर्वत्र!
क्या तव मन इस पर भी पीड़ित होता नहीं पाय संताप?
सत्यशील बनकर अनर्थ यह, हाय! कर रहे हैं क्या आप।८।
देवराज सम जिस अर्जुन ने उत्तरकुरु सब विजय किया,
करके हे नृप! तुझे अकृत्रिम अतुलित धनोपहार दिया।
तेरे लिये वही अब हा हा! तरु के वल्कल लाता है,
इसे देख कर भी क्या तुझको कुछ भी क्रोध न आता है। ९।
यहाँ महीतल पर सोने से मृदुल गात होगया कठोर,!
वनगज तुल्य देख पड़ते हैं!! जटा लटकती हैं! सब ओर!!!
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश,
क्या तू शेष नहीं करसकता अब भी अपना धैर्य विशेष। १०।
हे नृप! तेरी मति गति मेरी नहीं समझ में आती है,
चित्तवृत्ति भी किसी किसी की अद्भुत देखी जाती है!

तेरी प्रबल आपदाओं का चिन्तन करती हूँ मैं ज
मनस्ताप से फटजाता है यह मेरा हृदयस्थल तब।१
मूल्यवान मञ्जुल शय्या पर पहले निशा बिताता थ
सुयश और मङ्गल गीतों से प्रात जगाया जाता था
वही, आज तू कुश काशों से युक्त भूमि पर सोता है
अति कर्कश शृगाल शब्दों से हा हा! निद्रा खोता है।१२
द्विज भोजन से बचा हुआ शुचि षटरस अन्न पुष्टिकारी,
खाकर, जिसने इस शरीर को पहले किया मनोहारी।
भूप! वही तू, आज उदर निज वनफल खाकर भरता है,
यश के साथ देह भी अपना हा हा हा! कृश करता है।१३।
रत्न-खचित सिंहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे,
नृप मुकुटों के सुमन रजःकण जिनको भूषित करते थे।
मुनियों और मृगों के द्वारा खण्डित कुश युत वन भीतर,
अहह! तात फिरते रहते हैं वेही तेरे पद मृदुतर।१४।
यह विचार करके यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल!
हृदय समूल उखड़ जाता है, पाती हूँ मैं व्यथा विशाल।
जिन मानी पुरुषों का विक्रम हर नहिं सके शत्रु-कुलकेतु,
उनकी ईश्वरदत्त हार भी होती है सुख ही का हेतु।१५।
मुझ पर करके कृपा वीरता धारण करिये फिर इस बार,
क्षमा छोड़िये; जिसमें रिपु का होवे नृप सत्वर संहार।
षड्रिपुनाशक सहनशीलता निस्पृह मुनियों हीं के योग्य,
भूपालों के लिये सर्वदा यह सब भाँति अयोग्य अयोग्य।१६।
तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान,
हैं महीप! अरि से पाकर भी, यदि ऐसा दुःसह अपमान।
बैठे रहें शान्तचित धारण, किये हुए सन्तोष महान,
तो हा हा! हत हुआ, निराश्रय मानवान पुरुषोंका मान।१७।

तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य आदि शुभ गुण समुदाय,
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय !
तो यह राजधर्म का सूचक वीरोचित कोदण्ड विहाय,
यहीं अखण्ड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढ़ाय।१८।
कपट कर रहा है रिपु, इससे तुझ तेजस्वी को महिपाल !
पालन करना नहीं चाहिये पूर्वप्रतिज्ञा प्रण इस काल !
आरे पर विजय चाहने वाले धराधीश बलबुद्धि-निकेत,
विविध दोष, की हुई सन्धि में, दिखलाते हैं युक्ति समेत।१९।
दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आपाश,
शत्रुनाश होने पर लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अघनाश !
जैसे प्रातःकाल, सिन्धु में मग्नहुए दिनकर को आप,
तिमिरराशि हटने पर, दिनको शोभा मिलती है सुखपाय।२०।
भारविरूपी कवि सविता को कविता विद्वज्जन की प्राण,
अति उद्भट अति अगम मनोहर, महा अलौकिक अर्थ निधान।
मुझ अतिशय अल्पज्ञ अज्ञ कृत यह उसका जघन्य अनुवाद,
अनुशीलन कर हे रसज्ञजन ! करिये मेरे क्षमा प्रमाद।२१।

जय रामचन्द्र।

[१]

[बाबू बालमुकुन्द गुप्त * रचित]

(१)

जयति जयति जय रामचन्द्र रघुवंश विभूषन।
भक्तन हित अवतार धरन नासक भय-दूषन॥
जयति भानु-कुल भानु कोटि ब्रह्माण्ड प्रकाशन।
जयति जयति अज्ञान मोहनिशि तिमिर विनाशन॥
जय निज लीला यस वपु धरन,
करन जगत कल्यान मय,

* बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म संवत् १९२१ वि० में हुआ था और वे सं० १९६३ वि० में मरे। आप पञ्जाब में गुरगानी नामक एक गाँव के रहने वाले थे और जाति के कैथ थे। आपको आरम्भ ही से उर्दू की शिक्षा दीगई थी। इस भाषा में आपने अच्छी योग्यता सम्पादन करली थी। "अखबारे-चुनार" और "कोहनूर" नामक प्रसिद्ध उर्दू पत्रों का आपने सम्पादन किया था। पीछे से आपने हिन्दी सीखी और हिन्दी "हिन्दोस्तान" के सहकारी सम्पादक रहे। फिर वे हिन्दी बङ्गवासी के सहकारी सम्पादक हुए। अनन्तर आपने भारतमित्र का सम्पादन-भार ग्रहण किया और इस काम को मरते दिन तक करते रहे। इनकी लिखी पुस्तकें रत्नावली नाटिका, हरिदास योगी, स्फुट कविता, हिन्दी लिखावट आदि हैं।

जय कर-धनु-सर तूनीर-कटि,
सीया सहित श्रीराम जय॥

(२)

सिव विरञ्चि अहिराज पार कोऊ नाहिं पावै।
सनकादिक सुक सारद नारद ध्यान लगावै॥
मुनिगन जोग समाधि धरहि बहु विधि जाकारन।
नदपि रूप यह सकहि न करि अरु अन्तर धारन॥
सो अखिल ब्रह्म शिशु रूप धरि,
खेलत दशरथ के सदन।
कौसल्या निरखति मुदित मन,
जयति राम आनन्द घन॥

(३)

सहित अनुज बनवीच करी मुनि मख रखवारी।
मारग जात निहारि नारि पाथर की तारी॥
जनकपुरी में जाय यज्ञ को मान बढ़ायो।
नृपति-प्रतिज्ञा राखि सीय को मन हुलसायो॥
सिव चाप तोरि खल नृपन को,
मान दर्प चूरन करयौ।
अरु भृगु-कुल-कमल पतङ्ग को,
चाप खैंच संसय हरयौ॥

(४)

सुन विमात के वचन तुरत बन को उठिधाये।
रुदित छोड़ि पितु मातु प्रजा मन सोच न लाये॥
अवध तजन को खेद नाहिं धन धाम तजनकर।
किन्तु भरत को ध्यान एक उरमाहिं निरन्तर॥

सुग्रीवहि लखि दुखी आनुजी दशा विचारी।
करुणहि भुजा विशाल देहि पहरावनि भारी॥
एक बानसों ग्रीव बालि गुरुधाम पठायो।
लगा कहि परबोधि मरुत को कष्ट मिटायो॥
अब बलसुखहि तावक करम,
विपति आदि पुलकित हियो।
कर निजहु माथ कपिराज के,
मीत-रहु राजा कियो॥

(७)

छोड़ि गेह आरे ग्राम आए चरनन सिर नायो।
अग्रज के डर डरयो मनहिं अति ही सकुचायो॥

चितवत ही इकवार अहो पलटी ताकी गति।
लात खाय के कढ़्यो भयो छन में लङ्कापति॥

दससीस मारि महि भार हरि,
असुरन दीन्ही बिमल गति।
जय जयति राम रघुवंश मनि,
जाहि दीन पर नेह अति॥

(८)

देवराज भये मुदित अमरपुर बजत बधाई।
बजहि दुन्दुभी भीरु बिमानन की जय छाई॥
सुरबाला सब मुदित अङ्ग फूली न समावैं।
फूलन बरसा होहि देवगन अस्तुति गावैं॥

असित जिये बहुकाल प्रभु,
असुर मार दीन्हों अभय।
अब आय अवध पर तोषिये,
जयति राम रघुबीर जय॥

(९)

पूरन ससि जिमि निरखि उदधि बाढ़त तरङ्गसों।
देखि घटा घन घोर मोर नाचत उमङ्गसों॥
तैसो आज अवध सुख उमड़त नाहिं समायत।
निरखि राम रिपु जीति भ्रात सीता संग आवत॥

प्रमुदित गुरु जननी नारी नर,
सुख न जात केहू को कह्यो।
अब भ्रात-सिरोमनि भरत के,
मोद जलधि-हिय में बह्यो॥

([illegible])

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

रामभरोसा।

[१]

(१)

राम तुम्हारो नाम सुन्यो तुम देखे नाहीं।
कैसे हो तुम यहै सोच हमरे मन माहीं॥
वेदन और पुरानन तव लीला बहु गाई।
सुनी पढ़ी हम हूं कितनी तुम्हरी प्रभुताई॥

(२)

त्रेतायुग महँ भयो सुन्यो हम राज तुम्हारो।
और सुन्यो यह जगत बन्यो तुमहीं ते सारो॥
कृत त्रेता द्वापर कलि इन चारहु जुग माहीं।
अचल राज महाराज तुम्हारो रहत सदाहीं॥

(३)

रवि ससि ब्रह्मा इन्द्र अन्त सब ही को आवै।
रामराज को पार किन्तु कोऊ नहिं पावै॥
कला नसै चाँदनी छीन है ससि हो कारो।
पै दूनो दूनो चमकै प्रभु राज तुम्हारो॥

(४)

हाथ जोर इक बात आज पूछैं तुम पाहीं।
अब हूँ हे प्रभु! राज तुम्हारो है वा नाहीं॥

सुनो दिव्य तव राज, दिव्य लोचन कहँ पावै।
जासों यह सुख अनुभव करि आनन्द मनावै॥

(५)

आप दया कर राज आपनो देहु दिखाई।
हम तो आँधर भये हमें रघुनाथ दुहाई॥
तुमहिं करौं प्रभु दया तुमहिं जासों हम जानहिं।
गुन स्वरूप तुम्हरो अपने उर अन्तर आनहिं॥

(६)

सुनो तुम्हारो राज हतो दुःखहीन सदाहीं।
ते दुःखी धामें ढूँढ़ेहु मिलते नाहीं॥
अङ्गहीन तनहीन रोग सोकन के मारे।
कबहुँ न कोऊ सुने राम प्रभु राज तुम्हारे॥

(७)

और सुनो हम राज तुम्हारे भयो न कोई।
अन्नहीन जलहीन प्राण त्यागो जिन होई॥
पूत पिता के आगे काहू को नहिं मरतो।
राज तुम्हारे पुत्रसोक कोऊ नहिं करतो॥

(८)

और सुनो हम चोर जार लम्पट अन्याई।
सके न कबहूँ रामराज के निकटहुँ जाई॥
कबहुँ न पर्यो अकाल मरी कबहूँ नहिं आई।
अन्नहीन तृनहीन भूमि नहिं दई दिखाई॥

(९)

वायु बह्यो अनुकूल इन्द्र बहु जल बरसायो।
सुखी रहे सब लोग रह्यो नित आनन्द छायो॥

धर्म कर्म अरु वेद गाय विप्रन को आदर।
रह्यो तुम्हारे राज सदा प्रभु सब विधि सुन्दर॥

(१०)

पै हमरे नहिं कर्म धर्म कुल कानि बड़ाई।
हम प्रभु लाज समाज आज सब धोय बहाई॥
मेटे वेद पुरान न्याय निष्ठा सब खोई।
हिन्दू-कुल-मरजाद आज हम सबहिं डुबोई॥

(११)

पेट भरन हित फिरैं हाय कूकर से दर दर।
चाहहिं ताके पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं।
कैसी तुम्हरी महिमा कलुषित हियमहँ आनैं॥

(१२)

किन्तु सुने हम राम अहो तुम निरबलके बल।
यही रही है हमरे हिय महँ आसा केवल॥
गुह निषाद हम सुन्यो राम छाती तें लाये।
माता सम भिल्लिनी गीध जिमि पिता जराये॥

(१३)

यह हिन्दूगन दीन छीन हैं सरन तुम्हारे।
मारो चाहे राखो तुम ही हो रखवारे॥
दया करो कछु ऐसी जो निज दसा सुधारै।
तुम्हरो उत्सव एक बार पुनि उर महँ धारै॥

प्रताप-विसर्जन।

[बाबू श्रीराधाकृष्णदासजी • लिखित]

उन्नति सिर गिरि-अवलि गगनसों उत बतरावन।
इत सरवर पातालभेदि अति छवि छहरावन॥
मन्द पवन सीरी बहै होत लगे पतझार,
पर्णकुटी नरसिंह लसत इक मानो कोउ अपनार
हरन भुविभार को॥

गुप्त-मण्डल अति शान्त कान्तिमय चितवन सोहै
भरे अनेकन भाव व्यग्र चारहुँ दिसि जोहै।
घोर मण्डली घेरि के प्रभु को गति रहे जोहि
मनु भीषम सरसयन पर, कौरव पाण्डव रहे सोहि

लखि निज प्रभु की अन्त समय को वेदन भारी।
व्याकुल सब मुख तकैं सकैं धीरज नहिं धारी।
राव सलूमर रोकि निज हिय उद्वेग महान
हाथ जोरि विनती कियो, अति हरुए लगि प्रभु कान
बैन आरत सनें॥

अहो नाथ अहो वीर ! सिरोमनि भारत स्वामी
हिन्दू कीरति थापन में समर्थ सुभ नामी।
कहाँ वृत्ति है आपकी कौन सोच कहा ध्यान
देखि कष्ट हिय फटत है केहि सङ्कट में हैं प्रान
कृपा करिकै कहो॥

सुनत दुखभरे बैन नैन तिनकी दिसि फेखो
भरि कै दीरघ साँस सबन तन व्याकुल हेखो।
पुनि लखि सुत तन-फेरि मुख अति संतप्त अधीर
धरि धीरज अति छीन सुर बोले बचन गम्भीर
परम आतङ्कसों॥

हे हे वीर सिरोमनि ! सब सरदार हमारे
हे विपति सहचर ! प्रताप के प्रान पियारे।
तुव भुजबल लहि मैं भयो रच्छा करन समर्थ
मातृभूमि-स्वाधीनता कों प्रबल शत्रु करि व्यर्थ
अनेकन कष्ट सहि॥

प्राननहूँ ते प्रिय स्वतन्त्रता कबते खोई
हाय ! आर्यगन भए दास निज गौरव धोई।
यवन विदेसी सत्रु के दास बने करि गर्व
नस्वर तन सुखकारनें आर्य-कीर्ति करि खर्व
भूति निजरूप को॥

या प्रताप ने उचित कह्यो-
वा स्वतंत्रता हेतु जगत सुख
ढाहि महल खँडहर किये सु
छानि वननि की धूरि को गिरि
जन्म दुःख झेलि कै

स्वर्गहुतें बढ़ि जन्मभूमि करि रा
सूखी रोटी अति पवित्र जल छु
सो खोई बहु दिनन की सुख
बन्धु-बान्धव बीच में हम मरत
क्लेस को लेस नहिं ॥

पै जब आवत ध्यान लह्यो जो सहि
सो अमूल्य निधि मम पाछे रहि है
तुच्छ वासना में पर्यो दुःख स
चञ्चल अमरहि देखि कै होत आस
सोच भावी दसा ॥

कहि दुखमय यह वचन अमर तन दुख
रूँदि नयन जल भरे स्वास ले सब दिसि
ग्राटा चहुँ दिसि छयो सब के मुख
र्वी दिसि हेरे सबै भरे महा हि
बैन नहिं कछु कहै ॥

साहस पुनि राउ सलूमर सीस
ायादन करि अति विनीत यह
नाथ ! यह

बदलि धास कछु सम्हरि बैन परताप कह्यो पुनि ।
अति गम्भीर सतेज मनहुँ गूँजत केहरि धुनि ॥
"सुनहु वीर मेवार के गौरव राखन हार,
मेरे हिय की वेदना—जो कियो आस सब छार
अमर के कर्म ने ॥

एक दिवस यह कुटी अमर मेरे ढिग बैठ्यो ।
इतने ही में मृग एक आनि कै तहाँ जु पैठ्यो ॥
हरवराइ सन्धानि सर अमर चल्यो ता ओर,
कुरिया के या बाँस में फँस्यो पाग को छोर
अमर तोहू न रुक्यो ॥

बढ़न चहत आगे वह पगिया खैंचत पाछे ।
पै नहिं जिय में धीर छुड़ावे ताकों आछे ॥
पागहु फटी सिकारहु लग्यो न याके हाथ,
पटकि पाग लखि झोंपड़ी अति ही क्रोध के साथ
बैन मुख ते कढ़े ॥

रहु रहु रे निर्बोध अमर गति रोकन हारे ।
हम न लेहिंगे साँस बिना अब तोहि उजारे ॥
राजभवन निर्मान करि तेरो चिन्ह मिटाय,
जो दुख पाये तोहिं में सो देहौं सबै भुलाय
सुखद आवास रचि ॥

तब ही ते ये बैन सूल सम खटकत मम हिय ।
यह पर सुखवासना अबसि दुख दिवस बिसारिय ॥
अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम,
बेच सिसोदय-कीर्त्ति कों यह करिहै अबसि निकाम
रुके हम सोच यहि ॥"

हिन्दूपति के बैनि सुनत क्षत्रिय कोये
अति पवित्र रजपूत रुधिर नस नस दौड्यो त
लै लै असि दृढ़ पन कियो है है प्रभु के
जौलों तन स्वाधीनता तौलों रखों बच
सङ्क करिये न कछु॥

दृढ़प्रतिज्ञ छत्रिन पन सुन राना मुख विकस्यो
आस लता डहडही भई मुखतें यह निकस्यो॥
धन्य वीर तुम जोगही यह पन तुमहिं सुहाय,
अब हम सुख सों मरत हैं हरि तुम्हरे सदा सहाय
यहै आसीस मम॥

देखत देखत शान्त सदन परताप सिधाए।
पराधीनता मेघ बहुरि भारत सिर छाए॥
सबही सुख परताप संग कियो विसर्जन हाय,
दीन हीन भारत रह्यो सुख सम्पदा गँवा—
नाहि प्रभु रच्छिये॥

सावित्री-प्रबोधन।

[गो० किशोरीलालजी विरचित]

अहो आज या कृष्ण चतुर्दशि की रजनी में।
छयो गगन घन सघन अँधेरो या अवनी में॥
मनहुँ असुर कोउ अन्धकार वपु धरि इत आयो।
धावा पृथिवी मांहि फैल निज अङ्ग बढ़ायो॥
जाके कारन कतहुँ कछु नहिं दीसत जग में।
चञ्चल चपला हूं घनपट तें कढ़त न मग में॥
जदपि भयानक श्वापद-संकुल वन यह भारी।
तदपि महानीरव, न जन्तु घूमत निशिचारी॥
नाहिन कहूँ प्रकाश पत्र एकहु नहिं हालत।
प्रकृत वधूटी सोवत जनु नीरवता घालत॥
पञ्चभूत महँ एकहु भूत न सजग दिखाई।
तटिनी गनहु निजपति उरु लगि सोवत आई॥
नीरव निश्चल शान्तभाव से सोवत धरनी।
अन्धकार अञ्चल तें मुख ढाँपि जिमि कुलघरनी॥
२—अहो कौन जो हृदयविदारक वचन उचारत।
जानि परत यह तो अबला कोऊ अति आरत॥

अहो साँच ही दीख परत अबला कोऊ यह।
अरु याके सामुहे कौन जो धरनि परो वह॥
अहो! अहो! सुरदेव अहै यह कौन अभागी।
आरत बैन उचारि परो रोवत छिति लागी॥
अरी कौन तू या विध अतुलित करति विलापहि।
आपहि बैठति उठति परत धरनी पुनि आपहि॥
अरे! कहो, का? सावित्री, मैं परम दुखारी।
विलपति हौं, वनमाहि परी, मृत पति उरधारी॥
हाय! साँच यह है, सावित्री सती शिरोमनि।
वेग पाइ है निजपति को, यदि ऊवै दिनमनि॥
अहो! हाय याको लखि विषम यातना भारी।
वज्रहु को फाटत हिय, विधि! तुम्हरी बलिहारी॥
भूषन खलित, वसन विगलित, शिथिलित सब अङ्गहु।
खात लुरखुरी पायन लौं कुन्तल ढरि ढरि बहु॥
या अबला को हृदय-कमल अन्तर-ज्वालातें।
झुलिस गयो है, जिमि सरोज विनसत पालातें॥
हृदय-पिण्ड दोउन आँखिन तें आँसुन मिसि ढरि।
बह्यो जाति, या भुवन बुड़ावन को मनसा करि॥
पै उरोज शृङ्गन में रुकि रुकि सब ताही छन।
शोक-तपन-तापन सों जरत जात है छन छन॥
उरु आतङ्क अधिक, कम्पत तन, चलत उसासहु।
को समुझावै याहि, अहै कोउ नाहिन पासहु॥
बार बार है परत अचेत प्राणपती के उर।
या शोकानल सों अब चाहत नयन तिहूँ पुर॥
कबहुँ सुधा समीर निज कर तिहँ पर फेरत।
कबहुँ लेत मृत पतिहि भुजनि भरि भरि मुख हेरत॥

कबहुँ तो मुख पै अञ्चल सों करत बयारहि।
कबहुँक बिहुक अचल चख कारे तोहिं ओर निहारहि॥
३—सुन्यो जबै यह बैन, सती निजपति के मुखतें।
परम बिषादित, कुलिस कठोर, प्रौढ़ सब दुखतें॥
"हा! हा! प्रिये! धरति किन ललकि मोहिं, हा प्यारी!
बृश्चिक-दंश-जनित पीरा व्यापी तनु भारी॥
हा सुजान! या दुसह यातना को दिव्यौषधि।
अहै, सती! सावित्री! तव पीयूष-पानि-मधि॥
तव कर परसत ही, हा! हा! प्यारी! छनमांहीं।
सबै वेदना मिटि हैं, जनु व्यापी तनु नाहीं"॥
सुनत वज्रसम बैन सती सावित्री वेगहि।
धाइ, उठाइ, लाइ उर, बैठी प्रानपतिहि गहि॥
करत कोटि उपचार बिथा मेटन हित पति की।
गई हिराई दुःसह दुख में मतिहु जनु मति की॥
कहत—हाय! अब करौं कौनसो जतन बतावहु।
जो कोऊ इति होहु, बेगि धावहु, इत आवहु॥
नहिं खोलत जुग नैन, न बोलत मोसन अबहूं।
नहिं फेरत निज अङ्ग, न हेरति मोतन अबहूं।
नहिं मुसकाति, न करत बात, हा! हा! पिय अबहू।
अखिल विश्व नीरव, यह कानन अन्धकारमय।
जदपि अकेलो अहौं तदपि नहिं नेक मोहि भय॥
किन्तु एक भावना, अजानी अनसोची, अति।
टूक टूक करि हृदय, हरन चाहत मम गति मति॥
हाय! हाय! का आज, हाय! विधवा मैं ह्वै हौं?
हाय! कौन पातक धस सती नाम बिनिसैहौं?
नहिं, कबहूं नहिं, मैं विधवा ह्वै हौं कबहूं नहिं।

बेगि हुए है हृदय-कम्प देखहु कौतुक मो॥
४—यह सुनि सावित्री के निडर बैन नभवानी।
भाषन लागी वचनावली सुधा जनु सानी॥
"तू क्यों डरति, अरी! सावित्री सतीशिरोमनि?"
"अरे! कौन यह करी अमीमय आशाप्रद धुनि?
अहो! याहि की धावा पृथिवी करति प्रतिध्वनि।
तब तो मम आशा आई पुनि सब विध सो बनि॥
अहो! कौन यह कहत अमी से बैन मनोहर?"
"सती न होत कबहुँ विधवा, या हेतु धीर धर॥
महा तुच्छ, यम कोटि तिहारे आगे पुत्री।
सतीशिरोमनि उभय लोकमहँ तुही भवित्री॥
कहा शक्ति यम की, जो तेरे जीवितेपु को।
कबहुँक जो छू सकै, अहै पुनि अपर शेष को॥
अहो, तिहुँपुर माहिं बली ऐसो को अहई।
सतीशिरोमनि के मानस मनि को जो लहई?
या तें, बाले! नव अमूल्य निधि कोउ न लहि है।
ऐसो कौन समर्थ! हृदय तेरो जो दहि है॥
याते धरि धीरज, तू कछु छन अरु दुख सहिलै।
प्रनतपाल भगवन्त सरन साँचे हिय गहिलै॥
विधिकृत कर्म, रेख की अवधि वितीत भई अब।
बेगिहि अब तू पुनि पैहै निज पती सुहाग सब॥
सुनु सावित्री! विश्व मध्य अभया तू साँची।
विजया साँची तुहीं, करी, जो विधिकृति काँची॥
सतीशिरोमनि माहिं तुहीं पूजा के लायक।
तेरो सत्य शिवा सों अखिल पुन्य परिचारक॥
हैं या जग में जितो सती, आगे पुनि ह्वै हैं।

करि कर आदर तुम्ह पग पै निज सीस न
तू समान जे अहैं सती, सावित्री ! ते
सती नारि को पति वियोग नहिं होत बेद
तोसी पति अनुरागिनि तिय को पतिवियोग
कबहुँ भयो, नहिं है है, नहिं होतेहु देख्यो कहि
५—"अहह! देव! तुम धन्य, धन्य तुम्हरी बचनावा
या हृदयानल शमन हेतु जनु सुधा परै ढलि
रे ! रे! कुटिल! कठोर! काल! अब इत न आइयो
अपनो पौरुष इतै भूलिहु जनि दिखाइयो।
अरे समन ! सावित्री के यह सत्यनाम को
लोप करहि जनि, जाहि क्यों न अब लौटि धाम को!
अखिल लालसागार प्रान-आधार हमारो।
सेंदुर सुभग लिलार प्रानहु तें पति प्यारो॥
बरबस तू जनि लेह, देह जनु यह मोहि भिक्षा।
अरे सबल! अबला संग यह का विषम समिक्षा॥
रे रजनी ! तू अटल होहु जबलगि पति मेरो।
उठै न नींद बिहाइ, मेटि दुख दुसह घनेरो॥
हे हे दिनकर तुमहूं तब लगि नींद न त्यागहु।
जब लगि मम पति जागै तुमहूँ जनि जागहु॥"
६—"अहो! हुइ है वचन सत्य, सावित्री! तेरो।
बेगि जागि है पति तेरो, यम करतें फेरो॥
कछु छन अरु धीरज धरि तू यह समय बिताइहि।
बेगिहि, अति बेगिहि निज प्रानपतिहि अब पाइहि॥
धारन करिहै हृदय माहिं तू निज हृदयेशहि।
ऐसहि सुखद सुबैन, सुधासम, गगनगिरा कहि॥
जैसहि अन्तरधान भई उह गिरा सुहावन।

तैसेहि जाग्यो सावित्री को पति मनभावन ॥
धाइ, लाइ उर, लियो पतिहि हरषाइ भावसों।
मिले "रसिक" दोऊ अति पुलकित गात चावसों ॥

[सरस्वती से

अनजाने पथ में एकाकी निःसहाय जाते हैं आप।
या कि दयामय दीनबन्धु भगवान हरें पथ के सन्ताप। ३।
दिव्य धाम में आप चले पर जो तुम्हरे कहलाते हैं।
कैसे हो सन्तोष उन्हें जो वियोग से दुख पाते हैं।
शोक दुःख व्याधि ज्वाला सब अपनी आप बुझाऊँ मैं।
कहाँ पिताजी एकबार तव दुर्लभ दर्शन पाऊँ मैं। ४।
कभी कदाचित् जिनके मुख को मलिन देख नहीं सकते थे।
प्यार प्रीति वात्सल्य भाव निज अतुल जिन्हों पर रखते थे।
आदरणीया पतिव्रता वह पूज्य बड़ा भाई गुनवान।
नित्य करें क्रन्दन व्याकुल हो पितृहीन तुम्हरी सन्तान। ५।
कहाँ स्नेह वह गया दयालो! जिससे धीरज देते थे।
बात बात में श्वास श्वास पर नाम राम का लेते थे।
करते थे उपदेश "भरोसा जिसे हरी का होता है।
सकल दुःख सन्ताप मनुज वह एक आन में खोता है"। ६।
लाड़ चाव की बात हाय! जब याद आपकी आती है।
वह कोमलता वह कठोरता देख फाटती छाती है।
असम्भाव्य अस्वर्ग्य समझ कर त्याग चले निरमोही हो।
वर्षों पहले निर्भय हो अपने को किया बटोही हो। ७।
खेद नहीं अपना हमको जितना उन दीन नरों का है।
परउपकारक! गुप्त भेद नहिं तुम पर जिनके घरों का है।
हाय! लोकलज्जा कारण जो माँग न सकते घर घर दान।
कौन भला तुम बिना दूसरा अब उनका राखे सम्मान। ८।
जिन पितरों की तृप्ति हेतु नित तर्पण श्राद्ध किया करते।
भाव भक्ति से सजल नेत्र हो जिनका नाम लिया करते।
आज आप उनके दर्शन हित उत्कण्ठा से जाते हैं।
बड़भागी विरले जन पितरों के पद पङ्कज पाते हैं। ९।

जावो जावो उसी धाम में देव; जहाँ से आये थे
दिव्य विभूति दिव्य भाव सब साथ आप ही लाये थे
पापी तापी मलिन जनों के संग आपका क्या संबन्ध है
मिलो जुलो देवों में जा, जहाँ पारिजात की यह सुगन्ध।१०।
किन्तु देव निज दिव्य धाम में रहते दयादृष्टि करके।
दीनबन्धु जगदेकनाथ से कहना ज़रा ध्यान धरके।
यहाँ प्रपीड़ित रोगग्रस्त दुर्भिक्ष दलित भारतवासी।
त्राहि त्राहि कर रहे रात दिन हैं जो अनन्य विश्वासी।११।
भक्तशिरोमणि के कहने को व्यर्थ न करते हैं भगवान।
निश्चय है तुम्हरे प्रयत्न से भारत भुवि का हो कल्यान।
धर्म कर्म जगदीश भक्ति औ निज पितरों को जैसे प्यार।
किया आपने करें सदा हम यही दीजिये आशीर्वाद।१२।

[हरिऔध]

युवा संन्यासी।

[२]

णनिधान मतिमान सुखी सब भाँति एक लवपुरवासी।
या अवस्था बीच विप्र-कुल-केतु हुआ है संन्यासी।
ाविध रीति से उस विरक्त को सुहृद बन्धु समुझाय थके।
ह्राजी के प्रवाह ज्यों पर उसे न वे सब रोक सके। १।
द पिता माता की आशा बिन ब्याही कन्या का भार।
क्षाहीन सुतों की ममता पतिव्रता नारी का प्यार।
न्मित्रों की प्रीति और कालिज वालों का निर्मल प्रेम।
ाग, एक अनुराग किया उसने विराग में तज सब नेम। २।
ाणनाथ! बालक सुत दुहिता" यों कहती प्यारी छोड़ी।
हाय! वत्स! वृद्धा के धन!!" यों रोती महतारी छोड़ी।
र सहचरी "रियाज़ी" छोड़ी रम्य तटी रावी छोड़ी।
खा-सूत्र के साथ हाय उन बोली पंजाबी छोड़ी। ३।
न्य पञ्चनद भूमि जहाँ इस बड़भागी ने जन्म लिया।
न्य जनक जननी जिनके घर इस त्यागी ने जन्म लिया।
न्य सती जिसका पति मरने से पहिले हो जाय अमर।
न्य धन्य सन्तान पिता जिनका जगदीश्वर पर निर्भर। ४।
ोकग्रस्त होगयी लवपुरी उसकी हुई विदाई जब।
ोभूत कैसे न होय मन? संन्यासी हो भाई जब।

संसार।

[पं० श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र लिखित]

लखो यह अति अद्भुत संसार।

येई, ससि-सूरज तारागन यहै व्योम-विस्तार।
येई ध्रुव सप्तर्षि बृहस्पति शुक्र चक्र सिसुमार॥
येई मेघमाल सौदामिनि इन्द्रधनुष संचार।
यहै कुमंडल सहित दीपगन सागर नदी पहार॥
मनु थलि भारत कान्ह के आछत है सब जीव प्रकार।
तैसे ही अपने हु सम्मुख लखि संभ्रम होत अपार॥
उनहूँ के मन ससि उडुगन को लखि प्रति निसि दरबार।
ह्वै है होत विविध विध भावन को अवस्य संचार॥
फिरत गगनमण्डल में ये सब कबसों बिनु आधार।
कबलों याही भांति फिरहिंगे ह्वै है कबहिं उजार॥
कितने सुख इन महि पर देखे कितने हाहाकार।
सुख में सुख इ गुनत नर इनकहँ त्यों दुखमाहिं अँगार॥
पै सब दिन सब मास सकल ऋतु सब जग को सतकार।
एक भाँति ये करत सदाहीं बदलत नेकु न बार॥
घोर समर अरु सान्ति जगत् में इन देखी बहु बार।
पैरहि एकहि रस मनु खोली पिरतों की घटसार॥

सुधि कर सोक विकल वैदेही करुना लंक मँझार।
हनुमत् वच सुनि रामचन्द्र के सुधि करि विरह विचार॥
उदै होत ये भाव अचानक कैसो जग व्यवहार।
कहँ वैदेहि राम लंकेस्वर गये सबै मिलि छार॥
कितीवार कितने नर आपुहि यहि भूकर भरतार।
गुनि गुनि नृपता अचल करन हित किय नृप गन संहार॥
करि करि बिनु कंटक भुवमण्डल नृप गन बार हज़ार।
गहि गहि गरब पढ़ि धरि आखिर भे रज के उपहार॥
इकइसबार निछत्र पुहुमि करि कठिन परसु की धार।
निज गुन राम कस्यपहि दिय महि सह गिरि सागर भार॥
काम वैर भय सोक गरब दुख तृष्णहि आदि विकार।
भूत भविष्यत हित यद्यपि सब देत इन्हें फटकार॥
वर्तमान में तदपि गुनत नर इन ये दिन निगार।
परम प्रगाढ़ देखि जग में यह मोह जनित अँधियार॥
एकमात्र सिद्धान्त गये विधि करत चित्त स्वीकार।
वारि बबूला मृग-तृष्णा सो जग जीवन बिनु सार॥

[वर्षा से

कहावतों पर कुण्डलियाँ।

[पुरोहित गोपीनाथ एम. ए. द्वारा विरचित]

[१]

"अन्धा बाटे जेवरी पाछे बाछा खाय॥"
पाछे बाछा खाय अन्ध कों सूझत नाहीं।
ज्ञान कहाँ ते होइ, जोति हिय-नैनन माहीं॥
जतन करत नरदेह मोह माया तें भूलो।
जानत काल न मूढ़ फिरत है फूलो फूलो॥
रसिक आपुनी शक्ति बिनु जाँचे काम जुधाय।
"अन्धा बाटे जेवरी पाछे बाछा खाय॥"

[२]

"आग लगन्ते झोपड़ा जो निकसे सो लाभ॥"
जो निकसे सो लाभ जात नर ऊमर बीती।
काया रहै न वित्त वृथा क्यों थूक फजीती॥
जो गिनती के स्वास ताहि बिरिया हरि गावो।
धन जोवन तन माहिं वृथा जनि काल बितावो॥
जाते जाते जो बचे रसिक हाथ गहि गाम।
आग लगन्ते झोपड़ा जो निकसे सो लाभ॥

[३]

" बीते ब्याह कुम्हार के
भाएडा लेने जाइ ब्याह
निज हाथन उपहास करा
जबलों इन्द्रिय शक्ति तभो लो
साधहु चारों वर्ग काम मन
आग लगे घर में रसिक कूप
बीते ब्याह कुम्हार के भाएड

[४]

" गुड़ जानै कै कोथरा कै बनिया
कै बनिया को हाट जाहि बीती
निज करमन के भोग करे बोही
लोग कहैं इस हाथ दे, लै इस हा
मिले न फल इस लोक में तो उस लो
रसिक करे जोही लखे गति न और
" गुड़ जानै कै कोथरा कै बनिया की

[५]

" सौ गाहे सूआ पढ़े अन्त बिलाई
अन्त बिलाई खाइ कीर दूजी गति
राम अकारथ नाम भक्ति बिन
पढ़ह न

जब कब होइ विनास काल चढ़ि धाइ जु आवे।
जराजीर्ण नर देह ग्रासतें कौन छुड़ावै॥
मृत्यु लिये कर बान रहा तकि औसर अपना।
प्रान जाय तजि काय जीव जनु जग सुख सपना॥
रसिक चेतु हरिनाम भज जबलों आतुर स्वास।
नदी किनारे रूखरा जब कब होइ विनास॥

[७]

"ढाक चढ़त बारी गिरै करे राव पर रोष॥"
करे राव पर रोष दोष निज ताहि लगावै।
अपनी करनी भूल परहि अपराधि बनावै॥
दुख प्रतिफल निज पाप है सुखहु सुकृत परिणाम।
रीति यही जग दूसरे सिर पोंछत निज काम॥
सुख दुख अपने करम के रसिक प्रभू निरदोष।
"ढाक चढ़त बारी गिरै करे राव पर रोष॥"

[८]

"सूने घर को पाहुनो ज्यों आवै त्यों जाय॥"
ज्यों आवै त्यों जाय लाभ कछु बिना उठाए।
होकर हाय! हतास निसा बासर बिसराए॥
पै सत मानुष खोरि जिवि उन्नति अभिलाषी।
माया में लपटाय रहे पुनि अन्त निरासी॥
सुकृत करे नाहिं जो रसिक तनमन मानुष पाय।
"सूने घर को पाहुनो ज्यों आवै त्यों जाय॥"

[९]

"जोगी था सो रमगया आसन रही विभूति॥"
आसन रही विभूति जीव तजि देह सिधारा।
लार (सङ्ग) गये नाहिं द्रव्य पिता माता सुत दारा॥

दान पुन्य कर देह गहि करे जो सारा काम।
संग जात पर लोक में छांड़ि सुयश औ नाम॥
रसिक रही मिट्टी जर्ये आसन लिय यमदूत।
जोगी रहा सो रमगया आसन रही विभूति॥

[१०]

"कोऊ काहू को नहीं देखो ठोंक बजाय॥"
देखो ठोंक बजाय जगत स्वारथ को साथी।
मातु पिता सुत नारि सुता सुत घोटक हाथी॥
बाग बगीचा मित्र राज दरबारहु मोई।
जड़ चेतन निज लाभ बिना लखि है नहिं कोई॥
रसिक नहीं संसार इक संगी स्वार्थ बिहाय।
"कोऊ काहू को नहीं देखो ठोंक बजाय॥"

[११]

"जैसे कन्या घर रहे वैसे रहे बिदेस॥"
तैसे गये बिदेस कबहुँ सुध भूलि न लीनो।
जप तप किये न यज्ञ भोग में रुचिहु न दीनो॥
एक एक कर सब गये दिवस रहा नहिं कोइ।
अब पछतावत है वृथा निज हाथन तें खोइ॥
रसिक लोक परलोक को साधन किया न लेस।
"जैसे कन्या घर रहे वैसे रहे बिदेस॥"

[१२]

"भुस ऊपर को लीपनो औ बालू की भीति॥"
अरु बालू की भीति रहै थिर दिवस कितैकहु।
बिनु श्रद्धा को दान पुन्य सुख हेतु न नैकहु॥
कनक कामिनी माहि मन तन पर भगवा वेख।
यह ठग विद्या जगत में गली गली में देख॥

मन मैला तन ऊजरा रसिक राम सुख प्रीति।
भुस ऊपर को लीपनो अरु बालू की भीति॥

[१३]

"सदा न फूले तोरई सदा न सावन होइ॥"
सदा न सावन होइ चराचर रूप बढ़ावन।
रूप न रहै हमेस चहै संग जोवन जावन॥
जोवन थिर नहिं सदा देह नहिं अजर अमर पुनि।
सत्य एक भगवान ध्यान जिहि धरत योगि मुनि॥
रसिक जागु उठि राम भजु अवसर पर जनि सोइ।
सदा न फूले तोरई सदा न सावन होइ॥

[समालोचक से

कीन प्रतिज्ञा तब सुग्रीव सियहिं खोजन की।
अरु राघवहू सों सुकण्ठ कपिराज लहन की॥ ९
तब तिन नृपनन्दन ने रन में वालिहिं मारी।
सुग्रीवहिं कपिपति करि दियो राज बैठारी॥ १०
तुम तो पहिलेहि सों जानत वाली बलवानहिं।
ताकों तिनने मार्यो रन में एकहि बानहिं॥ ११

दोहा।

सत्य प्रतिज्ञ सुकंठ वह, सिय खोजन में व्यग्र।
वानरपति वानरन को, पठयो दिसन समग्र॥ १२

रोला।

ता सियकों अब सत सहस्र अरु लाखन वानर।
खोजि रहे हैं सबही दिसि धरनी अरु अंबर॥ १३
अनिवारित गति सीघ्र अहै मारुत सम कोऊ।
महाबली कपिवर हैं विनता सुत सम कोऊ॥ १४
मैं हनुमान नाम हूँ औरस सुवन पवन को।
आसु लाँघिसत जोजन उदधि सियहिं खोजन को॥ १५
तुमकों लखिबेहू को हौं इत पहुँच्यो आई।
घूमत तुम्हरे भवन जानकी मोहिं लखाई॥ १६
अर्थ धर्म ज्ञाता तुम तप करि लहि ऐस्वर्जहिं।
महाप्राज्ञ तुम को परदार हरन चहिये नहिं॥ १७
धर्म-विरुद्ध मूल-नासक अरु अनरथ कारी।
करै न ऐसो कर्म आप सम प्रज्ञाधारी॥ १८
कोप विवस रघुनायक अरु छूटे लछिमन सों।
को देवन या मनुजन माहिं सहै बानन कों॥ १९
हे नृप तीनहुँ लोकन में नहिं कोउ दरसाई।
करि विरोध राघव सों जीन रहे सुख पाई॥ २०

करिकै राघव को अपकार स्वयं सुरनायकै।
पाइ सकत नहिं सुख तुमसे जन हैं केहि लायक ॥ ३४ ॥
जाहि जानकी जानत जो है तुव गृहवासिनि।
समुझौ ताकौं कालरात्रि सब लङ्कानासिनि ॥ ३५ ॥
जानकि रूप काल पासहिं निज गर न लगाओ।
अपुने आपुहिं कुशल विचारै हिये निज लाओ ॥ ३६ ॥
राम कोप प्रज्वलित सीय के कोप जराई।
जरत अटा वीथिन सह परिहै पुरी लखाई ॥ ३७ ॥
अपने मन्त्री मित्र भ्रातु सुत हितू जाति गन।
और न करौ नास निज लङ्कहि दारन भोगन ॥ ३८ ॥
सुनौ निसाचर नायक सत्य वचन यह मेरो।
रामदासचर को विसेस करि वानर केरो ॥ ३९ ॥
सहचर अचर प्रानिगन के विनासि सब लोकन।
राम महाजसधारी बहुरि सकत करि सिरजन ॥ ४० ॥
देव असुर नृप यक्ष निशाचर अरु उरगन मैं।
मृगगन नागन विद्याधर अरु गन्धर्वन मैं ॥ ४१ ॥
सबै सिद्ध किन्नरन और पच्छी-गन माहीं।
सब प्रानिन मैं सब थल सबै काल कोउ नाहीं ॥ ४२ ॥
जौन लरै नारायनसम बलवान रामसों।
करि तिन लोकन के पति के विपरीत काम कों ॥ ४३ ॥

बरवै।

नृप केहरि राघव को अप्रिय काज।
करि दुर्लभ तुव जीवन निसिचरराज ॥ ४४ ॥

दोहा।

यक्ष देव विद्याधरहु, नाग दैत्य गन्धर्व।
तीन लोक-पति राम सों, सकैं न लरि रन सर्व ॥ ४५ ॥

कायतोनि गुरुवार विधि, विधुरानाक वर्णन ।
इन्द्रु सम्मुख गम कै, रन में उठाई गर्ज न ॥६७॥
पांच सिंह अरीन गुनि, कीन को अनिष्ट बान ।
तुरित काटि दस सीस दस, कटो करो करि पान ॥६७॥

श्रीराघवेन्द्रस्तव।

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त रचित]

[१]

पाके निदेश जिनका सब जानते हैं,
लोकेश सृष्टि रचते हरि पालते हैं।
संहार रुद्र करते फिर हैं तदीय,
वे जानकीरमण ही प्रभु हैं मदीय॥

[२]

सिंहासनस्थित प्रियायुत सौख्यकारी,
सौदामिनी सहित नीरद कान्तिहारी।
त्रैलोक्यनाथ सुर-सेवित-पादपद्म,
श्रीराघवेन्द्र भज रे मन! छोड़ छद्म॥

[३]

कोदण्ड और शरयुक्त जिन्हें निहार,
होते मलीन घन रोहित (१) युक्त हार।

---

(१) इन्द्रधनुष।

आत्मजोनि मुखचार विधि, त्रिपुरान्तक त्रयनैन।
इन्द्रहु सम्मुख राम के, रन में ठहरि सकै न ॥३
बोल सिष्ट अदीन सुनि, कपि को अप्रिय बात।
कुपित फारि दृग सीस दस, कह्यो करो कपि-घात ॥३

श्रीराघवेन्द्रस्तव।

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त रचित]

[१]

पाके निदेश जिनका सब जानते हैं,
लोकेश सृष्टि रचते हरि पालते हैं।
संहार रुद्र करते फिर हैं तदीय,
ये आनकीरमण ही प्रभु हैं मदीय॥

[२]

सिंहासनस्थित प्रियायुत सौख्यकारी,
सौदामिनी सहित नीरद कान्तिहारी।
त्रैलोक्यनाथ सुर-सेवित-पादपद्म,
श्रीराघवेन्द्र भज रे मन! छोड़ छद्म॥

[३]

कोदण्ड और शरयुक्त जिन्हें निहार,
होते मलीन घन रोहित (१) युक्त हार।

ये दामिनी-छवि-विनिन्दित जानकीश,
धारें कृपा कर स्वहस्त मदीय शीश॥

[४]

शङ्खस्थ नील-जल-जात समान चित्र, (१)
सीता गलस्थ जिनका कर है पवित्र।
ये अद्वितीय वर भूषण वस्त्र धारी,
देवें अनन्य निज भक्ति हमें खरारी॥

[५]

नीलाचल-द्रवित जह्नु-सुता (२) समान,
है कण्ठमाल जिनकी सुषमा निधान।
जो एक हो कर अनेक गये निहारे,
ये जानकीरमण पाप हरें हमारे॥

[६]

उत्फुल्ल चम्पक लता युत सर्वकाल,
होता सुशोभित यथैव युवा तमाल।
सीता समेत जिनकी छवि है तथैव,
होवें हमें सुखद राघव वे सदैव॥

[७]

सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणि आदि माया,
है वाम भाग जिनके जनकात्मजाया।
वे रामचन्द्र भगवान दयानिधान,
देवें हमें [illegible]

होती मलीन जिनकी छवि से समस्त।
है जो श्रुतिस्तुत चराचर व्याप्त राम,
सीता समेत उन राघव को प्रणाम॥

[१०]

कज्जाभ्र (१) चन्द्र रवि ज्ञान जिन्हें विलोक,
होते सुखी मधुप मोर चकोर कोक।
जो वेद सार परमेश्वर है ललाम,
सीता समेत उन राघव को प्रणाम॥

[११]

सर्वत्र शक्ति जिनकी सब काल व्याप्त,
होता समस्त जग है, जिनमें समाप्त।
जो शीघ्र पूर्ण करते निज भक्त काम,
सीता समेत उन राघव को प्रणाम॥

[१२]

आलोक चातक जिन्हें अति मोद पाते,
गाते जिन्हें सुर समस्त मुनीश ध्याते।

---

(१) कज्ज+अभ्र=मेघ।

नीलाब्ज तुल्य जिनका सब गात श्याम
सीता समेत उन राघव को प्रणाम

[१३]

है जो सदा पतितपावन विश्वनाथ,
हैं पूजते सुर जिन्हें सब शक्ति सा
सर्वज्ञ हैं सतत जो करुणैकधाम,
सीता समेत उन राघव को प्रणाम

[१४]

देवादि देव जिनको सब वेद गाते,
कोई कभी न जिनका कुछ पार पाते
है जो स्वयम्भव दयाब्धि मनोभिराम,
सीता समेत उन राघव को प्रणाम

[१५]

लाखों निशाकर दिवाकर दीप्तिमान,
होते मलीन जिनकी द्युति से महान
जो हैं परात्पर अजेय अनन्त नाम,
सीता समेत उन राघव को प्रणाम

[१६]

जो स्थूल सूक्ष्म दृढ़ कोमल भूमि व्योम,
एवं जलादि अनिलानल सूर्य सोम
है जो स्वरूप सब के नव यात याम (१),
सीता समेत उन राघव को प्रणाम ॥